TEXT CROSS WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL LIBRARY

समालोचना तत्त्व



लेखक
श्री नलिनीमोहन सान्याल,
एम० ए० 'भाषातत्त्व-रत्न'

समालोचना-तत्त्व
काव्य-रहस्य
कला-तत्त्व और
रहस्यवाद-तत्त्व

लेखक
श्री नलिनीमोहन सान्याल,
एम० ए० 'भाषातत्त्व-रत्न'



प्रकाशक
रामनारायण लाल
पब्लिशर और बुकसेलर
इलाहाबाद
१९३९
मूल्य १॥)

भूमिका

हमारे देश में कहावत प्रसिद्ध है कि बोली दस दस कोस पर बदलती है। बोलनेवाले सब अपनी अपनी भाषा को शुद्ध बतलाते हैं क्योंकि अपने दही को खट्टा कौन कहेगा? उत्तर भारत में अधिकांश घास छीलना बोलते और घास छीलनेवाले घसियारे कहलाते हैं। परन्तु बलिया में घास गढ़ना कहते हैं। दाल में नमक डालना "शुद्ध" भाषा है। परन्तु मथुरा में हमने भोजन बनाने के लिये भरतपूर की एक ब्राह्मणी रख ली थी। वह कहा करती थीं "दाल में नमक पटक दूँ" इत्यादि। सुविधा के विचार से शिष्टों ने शुद्ध भाषा के एक या दो रूप मान लिये हैं। उनका व्याकरण बन गया। लेखन-प्रणाली निश्चित कर ली गई। मुहावरों ने अपना उचित स्थान पाया। पद्य-रचना के लिये पिंगल बना। गुण, दोष, रस, अलंकार आदि की विवेचना हुई। जिस रचना में इन नियमों के प्रतिकूल कोई बात हुई वह दूषित कहलाई।

उत्तर भारत में शिष्ट भाषा के दो रूप हैं—एक अवधी, दूसरी ब्रजभाषा। दोनों के व्याकरण भिन्न हैं। परन्तु जो भाषा आज कल शुद्ध परिमार्जित मानी जाती है, वह दोनों से भिन्न है। हिन्दी के ग्रन्थ दो प्रकार के थे। एक का विषय भगवद्भक्ति था, जिसके अतंर्गत अश्लील कृष्णकाव्य भी हो गया, और दूसरे का विषय था राजाओं का बड़ाई-बखान। हमने आज तक वह हिन्दू दरबार नहीं सुना जिसमें भाषा के परिमार्जन का प्रयत्न किया गया हो। फिर आज कल की हिन्दुस्तानी कहाँ बनी? बनी मुसलमान बादशाहों के दरबार में। आज कल जिस गाँव या नगर में दस बीस पढ़े लिखे

मुसल्मान रहते हों वहाँ मुशायरा होता है। मुशायरे में एक मीर मुशायरा रहता है जिसका कहना प्रामाणिक माना जाता है। आदाब मुशायरे अर्थात् मुशायरे के लिये शिष्टाचार होते हैं। यह बातें किस हिन्दू दरबार में होती हैं? मुसल्मानों ने अपनी "हिन्दुस्तानी" में फ़ारसी शब्दों की भरमार करदी। ख्वाजा आतिश लखनऊ के सुप्रसिद्ध महाकवि थे। उनका एक शेर सुनिये,

व (ह) तुर्क आया लगा ऐ आतिशे गुल।
कबाब-तायराने-बोस्तानी ॥

इसकी दूसरी पंक्ति में एक शब्द हिन्दुस्तानी नहीं है। जब हिन्दी के लेखक प्रकट हुए तो उन्होंने फ़ारसी के बदले क्लिष्ट संस्कृत शब्दों मे अपनी भाषा को अलंकृत किया। नमूना लीजिये :—

सत्य धर्म कर्म निष्ठ धीर वीर वर वरिष्ठ,
सौम्यता विशिष्ट शिष्ट सादर सत्कारी।—'भारत-प्रशंसा'

हिन्दी लिखनेवालों में ऐसा कोई विरला ही होगा जिसने हिन्दुस्तानी भाषा सीखने का प्रयत्न किया हो। जिसने किया वही हमारे मत में शुद्ध हिन्दी का अच्छा लेखक हुआ। स्वर्गवासी बाबू बालमुकुन्द गुप्त कई बरस लखनऊ के प्रसिद्ध "सितम-ज़रीफ़" के शागिर्द रहे, पीछे "अवध पंच" में लेख लिखा करते थे। भाषा के मर्मज्ञों के सत्संग से उनको भाषा का ज्ञान हो गया। परन्तु भाषा सीखने की कोई विशेष प्रबन्ध न होने से जिसे थोड़ा सा भी संस्कृत का ज्ञान हुआ वह लेखक हो गया, और सिद्ध साधकों ने उसे आचार्य की पदवी देदी। वह गर्व से फूल कर कहने लगा कि हम जो कुछ कहते हैं, सब शुद्ध है। किसी ने उसके लेखों में दोष

दिखाये तो उनका उत्तर देना कठिन जानकर उसे आपने आप गालियाँ दीं और अपने गुर्गों से दिलवाईं।

समालोचक का काम इतना ही है कि व्याकरण, पिंगल आदि की अशुद्धियाँ जो किसी लेख में दिखाई दें उनको बतादे, जिसमें दूषित साहित्य का प्रचार न हो। योरप में इसकी अनोखी रीति निकाली गई। ईस्वी सन् की सोलहवीं शताब्दी में योरूपीय यात्रियों ने अपनी यात्रा के वर्णन में बहुत सी झूठी ऊटपटाँग बातें लिख डालीं। जैसे योरप में कपास नहीं होती। एक महाशय ने लिख मारा कि हम ने वह भेड़ देखी है और उसका माँस भी खाया है जिसकी पीठ पर कपास का पौधा उगता है। ऐसे साहित्य की जड़ काटने को डान् क्विक्सोट आदि ग्रन्थ लिखे गये जिनमें उन यात्रियों से बढ़कर बे सिर-पैर की बातें लिखी गईं। उनका एक छोटा सा उदाहरण यह है "एक गप्पी ने कहा कि मेरे दादा की घुड़साल इतनी बड़ी थी कि जब वह एक सिरे पर उसमें घुसते थे तो दूसरे सिरे तक पहुँचने तक घोड़ो ब्या जाती थीं। दूसरा जो उससे भी बढ़कर था कहने लगा कि मेरे दादा के पास इतना लम्बा बाँस था जिससे आकाश खोद देने से पानी बरसने लगता था। किसी ने पूँछा कि वह बाँस रक्खा कहाँ जाता था? वह बोला आप के दादा की घुड़साल में।" परन्तु ऐसे भी महाशय हो गये हैं जो पराई रचना में दोष ही निकालना जानते और एक संस्कृत श्लोक का आश्रय लेते हैं जिसका अर्थ है कि "हे हंस! तुझे दूध और पानी की जाँच में आलस्य न करना चाहिये।" यह श्लोक ऐसे स्वभाव का व्यंजक है जैसा आजकल के अधिकांश समालोचकों का है। हंस को दूध में से पानी अलग करते किसने देखा? थन से

निकले दूध में १०० अंश में ६७ अंश जल यों ही रहता है। हंस उसे भी अलग करदे तो रह ही क्या जायगा? संस्कृत में एक दूसरा वाक्य है जिसका अर्थ है कि सूअर जब बाग में घूमता है तो रंग रंग के फूलों को नहीं छेड़ता, वहीं पहुँचता है जहाँ मैला पड़ा है। लल्लू जी ने भी कहा है :—

दोषहिं को उमहैं गहैं; गुन न गहैं खललोक।
पिये रुधिर पै ना पिये, लगी पयोधर जोंक॥

समालोचक का काम उत्कृष्ट है। इसमें राग-द्वेष का लगाव गर्हित है। एक साहित्य-सेवी ने किसी प्रयोजन से दिन रात परिश्रम करके एक ग्रन्थ रचा उसमें "बिन काज" आप दोष निकालनेवाले कौन हैं? ऐसों से बड़े बड़े ग्रन्थकार सदा डरते ही रहे हैं। फ़ारसी का महाकवि सादी बोस्ताँ में ऐसे ही लोगों को संबोधन करके कहता है।:—

शुनीदम् कि दर रोज़ उम्मेदो बीम्।
बदां रा ब नेकां ब बख़शद करीम्॥
तो नीज़र बदी बीनी अन्दर सखुन।
बखुल्के जहानाफ़रीं कार कुन॥

अर्थ—मैंने सुना है कि क़यामत के दिन परमेश्वर बुरों को भी भलों के साथ क्षमा कर देते हैं। तुम भी मेरे वाक्य में कोई दोष देखो तो गुणों के साथ उन्हें भी बख़्श दो।

महाकवि बाण की कादंबरी संस्कृत साहित्य का एक रत्न है। परन्तु उसे भी समालोचकों ने न छोड़ा। उनके विषय में बाण भट्ट कहता है। :—

कटुक्वणं तो मलदायकाः खला
स्तुदन्त्यलं बन्धनशृंखला इव।

मनस्तु साधुध्वनिभिः पदे पदे
हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव ॥

अर्थ—कडुई बोली बोलनेवाले, मल (दोष) लगानेवाले खलों के बचन ऐसे बुरे लगते हैं जैसे बेड़ियों की झंकार, और सन्त लोग 'साधु' 'साधु' कह कर स्त्रियों के चरणों में मणि के नूपुरों की भाँति चित्त हर लेते हैं।

तुलसी दास के रामचरितमानस ने साहित्य का जो उपकार किया है वह किसी से छिपा नहीं है। कितने हिन्दुओं का यही वेद है। परन्तु जब महाकवि ने इसको प्रकाश करना चाहा तो समालोचक क्यों चूकने लगे? इस पर गोस्वामी जी ने उन्हें आड़े हाथों लिया। और उनके स्वभाव का फ़ोटो खींचकर उन्हें भिगो भिगो कर लगाईं।

ऐसे लोगों का काम सादी, वाण और गोस्वामी जी ने अमर कर दिया। परन्तु इनका नाम आज तक किसी ने जाना?

माधुरी वर्ष १२, खण्ड १, संख्या १ में पंडित रामदयाल तिवारी का 'समर्थ समालोचक' शीर्षक एक लेख छपा था। उसमें, विद्वान लेखक ने यह सिद्ध किया है कि समालोचना का मूल कारण ईर्ष्या है। हमारे अनुभव में यह ठीक है, परन्तु इसके अतिरिक्त और भी कारण हैं और उनमें जाति का अभिमान और कल्पित अपमान है। वास्तव में कोई अपमान नहीं किया गया; परन्तु अभिमानी समालोचक ने समझा कि हमारे बाप ही को मार डाला, और समालोचना के बहाने उचित अनुचित जो चाहा बक दिया। इससे बढ़ कर समलोचना का दुरुपयोग क्या हो सकता है?

यों तो लोग कहते हैं कि रोना, गाना सब को आता है, परन्तु गाने (संगीत) का एक शास्त्र बनगया है। ऐसे ही समालोचना की भी गिनती शास्त्रों में होने लगी है। हिन्दी के पत्र पत्रिकाओं का समालोचना भी एक अंग है। इस शास्त्र की अनभिज्ञता के कारण बहुतेरी समालोचनायें घृणा की दृष्टि से देखी जाती हैं।

हमारे मित्र भाषा-तत्त्वरत्न बाबू नलिनीमोहन सान्याल एम० ए० बंगाली होने पर भी हिन्दी भाषा के केवल रसिक ही नहीं, मर्मज्ञ भी हैं। उन्होंने समालोचना के एक एक अंग की विवेचना करते हुए इस शास्त्र पर एक उत्तम ग्रंथ लिखा है। इसमें समालोचकों के मर्मस्तल से लेकर भावना, कल्पना, काव्यकला, रहस्यवाद आदि विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। समालोचक महाशयों से मेरी प्रार्थना है कि इस ग्रंथ को आद्योपान्त ध्यान से पढ़ें, तब समालोचना करने के लिये क़लम उठायें।

१०७ बाई का बाग,
इलाहाबाद,
ज्येष्ठ शुक्ल ५, १९९३ वि०

श्री अवधवासी सीताराम

सूची-पत्र

यों तो लोग कहते हैं कि रोना, गाना सब को आता है, परन्तु गाने (संगीत) का एक शास्त्र बनगया है। ऐसे ही समालोचना की भी गिनती शास्त्रों में होने लगी है। हिन्दी के पत्र पत्रिकाओं का समालोचना भी एक अंग है। इस शास्त्र की अनभिज्ञता के कारण बहुतेरी समालोचनायें घृणा की दृष्टि से देखी जाती हैं।

हमारे मित्र भाषा-तत्त्वरत्न बाबू नलिनीमोहन सान्याल एम० ए० बंगाली होने पर भी हिन्दी भाषा के केवल रसिक ही नहीं, मर्मज्ञ भी हैं। उन्होंने समालोचना के एक एक अंग की विवेचना करते हुए इस शास्त्र पर एक उत्तम ग्रंथ लिखा है। इसमें समालोचकों के मर्मस्तल से लेकर भावना, कल्पना, काव्यकला, रहस्यवाद आदि विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। समालोचक महाशयों से मेरी प्रार्थना है कि इस ग्रंथ को आद्योपान्त ध्यान से पढ़ें, तब समालोचना करने के लिये क़लम उठायें।

१०७ बाई का बाग,
इलाहाबाद,
ज्येष्ठ शुक्ल ५, १९९३ वि०

श्री अवधवासी सीताराम

सूची-पत्र

समालोचना-तत्व

समालोचना-विषयक मनस्तत्व की कुछ आलोचना

व्याकरण-शास्त्र वा धर्म-शास्त्र वा वेदान्त-शास्त्र के सदृश 'समालोचना' नामक कोई विशेष शास्त्र भारत में नहीं है। परंतु संस्कृत अलंकार-शास्त्र में इस विषय की यथेष्ट आलोचना मिलती है। भरत मुनि से लेकर मम्मट तक और मम्मट से लेकर विश्वनाथ तक मनीषियों एवं मल्लिनाथ इत्यादि प्रसिद्ध टीकाकारों ने काव्यों के दोष गुणों का यथेष्ट विवेचन किया है। यूरुप में भी इस विषय की आलोचना अरस्तू के समय से होती चली आई है। गत दो तीन शताब्दी से इंगलैण्ड, फ़्रान्स, जर्मनी और अमेरिका में बड़े बड़े समालोचक पैदा हुए हैं। अतएव समालोचना-शास्त्र आधुनिक वा उपेक्षणीय नहीं। परन्तु हिंदी में इस विषय की आलोचना थोड़ी हुई है और समालोचना-शास्त्र के अभाव के कारण हिंदी-साहित्य की उन्नति में बहुत बाधा पड़ रही है।

जब हम किसी रचना की प्रशंसा वा निन्दा करते हैं, तब हमारे मन में इस बात की ठीक-ठीक धारणा रहनी चाहिए कि क्यों वह प्रशंसा वा निंदा के योग्य है। काव्य के उत्कर्ष या

अपकर्ष का क्या हेतु है ? जिस कविता को एक व्यक्ति उत्तम कहता है, उसे दूसरा व्यक्ति उत्तम क्यों नहीं कहता ? इन प्रश्नों की मीमांसा के लिए मानव-मन को क्रियाओं का अनुसन्धान आवश्यक है। परीक्षा-मूलक मनोविज्ञान की अभी तक इतनी उन्नति नहीं हुई कि परीक्षा के द्वारा ऐसे कठिन प्रश्नों का समाधान हो सके। अतएव साधारण मनस्तत्व से हमें जितना आलोक प्राप्त है, उसी के तथा अनुमान के द्वारा इन प्रश्नों को हल करने की चेष्टा के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं।

कोई वस्तु इन्द्रिय-ग्राह्य होने से हमारे मन में उसकी अनुभूति होती है और उस वस्तु में ऐसा विशेषत्व रहता है, जिसके कारण यह अनुभूति होती है। यहाँ वस्तु कारण है और अनुभूति कार्य। समालोचक को चाहिए कि वह सावधानी के साथ कार्य को कारण से—अनुभूति को वस्तु से—पृथक रखे। अब यह देखना चाहिए कि किन अनुभूतियों का महत्व अधिक है और किनका अल्प।

हमारे दर्शन शास्त्रों के मत में चेतना आत्मा का धर्म है। अन्तःकरण की सहायता से चेतना का काम होता है। मन अन्तःकरण की वृत्ति विशेष है। यूरुपीय मनस्तत्व-शास्त्र का पुराना मत यह है कि मन तीन अवस्थाओं में पाया जाता है—ज्ञान की अवस्था, अनुभव की अवस्था और संकल्प की अवस्था। सब व्यापारों में मन की इन तीन वृत्तियों की क्रियाएँ होती हैं, परन्तु प्रत्येक की पृथक् सत्ता उपलब्ध करना कठिन है। अनुभव की अवस्था एक प्रकार से मन की निष्क्रिय अवस्था है, संकल्प की अवस्था मन की सक्रिय अवस्था है। ज्ञान में मन की सक्रिय और निष्क्रिय दोनों अवस्थाएँ पाई जाती हैं।

इन्द्रियों की सहायता से पदार्थों को उपलब्धि होती है, किन्तु जिन गुणों का हम पदार्थों में आरोप करते हैं, वे पदार्थों में विद्यमान नहीं हैं। पदार्थों का कम्पन इन्द्रियों की सहायता से मस्तिष्क में पहुँचने पर स्नायु विशेष उत्तेजित होते हैं और इन उत्तेजनाओं के कारण पदार्थों की अनुभूति होती है। इस व्यापार की प्राथमिक अनुभूति को इन्द्रियानुभूति कहते हैं। जब इन्द्रियानुभूति स्मृति-शक्ति तथा चिंता-संहति की सहायता से उस निर्दिष्ट बाहरी आधार अर्थात् पदार्थ पर स्थापित होती है, तब प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है।

पंडितों में अब यह विश्वास दृढ़ होता जाता है कि मन स्नायु मंडल की क्रिया मात्र है। बाहर की वस्तुओं से या शरीर के भीतर से स्नायु मंडल को जब कोई उद्दीपन मिलता है, तब मानसिक क्रियाएँ उत्पन्न होकर अंत में उस उद्दीपन की प्रतिक्रिया होती है। उद्दीपन से प्रतिक्रिया तक के समस्त व्यापार को एक एक अनुभूति कहते हैं। अतएव अनुभूति में पुराने मत के ज्ञान और अनुभव मिले रहते हैं। चेतना या संज्ञा-क्षेत्र में कोई अनुभूति अलग नहीं रहती, बहुत-सी अनुभूतियाँ एक साथ मिली रहती हैं। चेतना निष्क्रिय नहीं रहती। आत्मा चेतना का चालक है। चेतना की क्रियाओं में उद्देश्य विद्यमान है। चेतना की उत्पादन-शक्ति तथा वहिर्जगत में परिवर्तन लाने की भी शक्ति है। चेतना का ध्यान एक एक समय मुख्यतः एक एक अनुभूति पर रहता है। उस समय वह दूसरी अनुभूतियों को हटा रखती है। यही उसकी निर्वाचन शक्ति कही जाती है। तर्क वा विचार किसे कहते हैं? जिस विषय का विवेचन आवश्यक है, अंशों में उसका विश्लेषण कर उनमें से जिनके

द्वारा उसका यथार्थ सिद्धान्त प्राप्त हो सके, उसे ग्रहण करने का व्यापार ही तर्क है। निर्वाचन करने की असाधारण शक्ति ही प्रतिभा या मनीषा कही जाती है। प्रकृति में असंख्य वस्तुएँ हैं और वे नाना रूपों और भावों में पाई जाती हैं। बाह्योद्दीपना के द्वारा ज्ञानेन्द्रिय उत्तेजित होने से अनुभूतियाँ मन में उदित होती हैं। उनकी विशेष-विशेष अवस्थाओं को भाव कहते हैं। भाववृत्ति तीव्रता धारण करने से आवेग में परिणत होती है। प्रतिभाशाली शिल्पी किसी वस्तु के अन्यान्य रूपों या भावों का परित्याग कर उस रूप या भाव को ग्रहण करता है, जो उसकी कल्पना के अनुकूल है।

चेतना स्वभावतः आवेग विशिष्ट है। आवेग दो प्रकार के होते हैं— आकांक्षा-मूलक और विराग-मूलक। कुछ आकांक्षाएँ ज्ञात होती हैं और कुछ अज्ञात रह जाती हैं। अधिकांश आकांक्षाएँ अज्ञात रहती हैं। लोग आकांक्षाओं की तृप्ति चाहते हैं। एक आकांक्षा से दूसरी आकांक्षा को बाधा पहुँच सकती है। जो आकांक्षाएँ तृप्त होती हैं, वे ही मूल्यवान या महत्वपूर्ण हैं। कोई आकांक्षा तृप्त न होने का कारण यह है, कि उससे अन्य महत्वपूर्ण आकांक्षाएँ नष्ट हो जाती हैं—वे चाहे अपनी हों, चाहे परायी। अतएव जिन अनुभूतियों से मानव जाति का सबसे अधिक उपकार हो, वे ही 'नीति-' पद-वाच्य हैं। जिस आकांक्षा की तृप्ति से नीति व्यर्थ हो जाती है, वह अनुपयोगी है। अतएव जब आकांक्षा कल्याणकर हो, तभी वह मूल्यवान एवं महती कही जा सकती है। जिन मनुष्यों में स्थायी और प्रकृतिगत नैतिक भाव हैं, वे दूसरों से भिन्न और गिरिशृङ्ग की नाईं उच्च हैं।

हमारे मन में निरन्तर नाना प्रकार के आवेग उत्पन्न होते हैं। किसी समय हम अत्यंत धनवान होना चाहते हैं, किसी समय काम या द्वेष से विकल हो जाते हैं, कभी वैराग्य या भक्ति-भाव से ऋषि-तुल्य मनोवृत्ति-सम्पन्न होते हैं, इत्यादि। ये चेतना की विक्षुब्ध अवस्थाएँ हैं—इनमें साम्य का अभाव है। हमारी मनोवृत्तियों में सामञ्जस्य रहना चाहिए और यह देखना चाहिए कि दूसरों की मनोवृत्तियों से इनका किसी प्रकार सङ्घर्ष न हो। जिन लोगों की मनोवृत्तियों में साम्य स्थापित हो गया है, उनमें ऐसी आकांक्षाएँ हो नहीं होतीं, जिनका दमन करना पड़े। ऐसे ही महापुरुष अपने समाज वा मानव-जाति का हित कर सकते हैं।

नृतत्व के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि सभ्य और असभ्य समाजों की अनुभूतियों में भिन्नता है। असभ्य समाज में जिस वस्तु की अनुभूति उत्तम मानी जाती है, कदाचित सभ्य समाज में वह उत्तम नहीं कही जाती। फिर काल के परिवर्त्तन से सामाजिक परिवर्त्तनों के साथ-साथ अनुभूतियों का आदर्श बदलता जाता है। सम्भव है कि एक काल में जो अनुभूतियाँ उत्तम मानी गई थीं परवर्ती काल में वही निकृष्ट कही जाती हों। दूसरे लोगों की मानसिक अवस्थाएँ हमें सदोष मालूम होने का कारण यह है कि हमारी मानसिक अवस्थाओं से वे भिन्न हैं। नैतिक आदर्श की भिन्नता का भी यही कारण है।

हम कह आए हैं कि सब समाजों की अनुभूतियाँ एक सी नहीं होतीं। अतएव समाजों की नीतियों में भी भिन्नता है। कलाविदों, व्यवसायियों तथा समालोचकों के भी समाज हैं, और उनकी भी नीतियाँ हैं। समालोचना उपेक्षणीय या विलास की

वस्तु नहीं। साहित्य-सेवियों तथा साहित्यालोचकों की मानसिक रोगों का चिकित्सक समालोचक ही है। समालोचक का काम कला वा साहित्य का मूल्य जाँचना है। साहित्य का संबंध मानव जीवन से है। अतएव समालोचना भी मानव-जीवन मे संबंध रखती है। मैथ्यू आरनाल्ड ने कहा है कि काव्य मानव जीवन की समालोचना है। जिन अनुभूतियों से किसी शिल्पी का सम्बन्ध होता है, उन्हीं को वह शिल्प में व्यक्त करता है। उसी से मानव मन के विकास का आरम्भ होता है। उसकी अनुभूतियों में आवेगों का सामञ्जस्य पाया जाता है। दूसरों के मनों में जिन बातों की अव्यवस्था है, उनको सुव्यवस्था करना ही कवि का काम है। कुछ लोग कवि-यश-प्रार्थी होकर कविता करने को उद्यत होते हैं, किन्तु वे विफल होते हैं। ऐसे लोग कवि पद- वाच्य नहीं हो सकते। सफल कवि ही यथार्थ कवि है। उसी के मन में आकांक्षाओं का सामञ्जस्य रहता है। शिल्पी मन की सूक्ष्म उत्तेजनाओं की प्रतिक्रियाओं का वर्णन करता है। सामान्यों से उसका संबंध थोड़ा है, किन्तु नीतिज्ञ का संबंध अधिक है। सामान्यों पर इसीलिए शिल्पियों का विश्वास कम है। परन्तु यह अनादर अनुचित है, क्योंकि अनुभूतियों के सूक्ष्म विन्यास से ही मानव जीवन की व्यवस्था सूक्ष्मता से होती है। शेली ने कहा है कि नीति का आधार उपदेश-मूलक व्याख्यान नहीं हैं, परन्तु कवियों की उक्तियाँ हैं। जिस जीवन की मूल अनुभूतियाँ अव्यवस्थित हैं, उसका उत्कर्ष नहीं हो सकता।

टालस्टाय कहते हैं कि जो शिल्प मनुष्यों में प्रीति का बंधन उत्पन्न तथा दृढ़ नहीं करता, वह शिल्प नहीं कहा जा सकता।

परन्तु शेली की उक्तियों में ही कविता के महत्व का संपूर्ण भाव पाया जाता है। "कविता दैवी शक्ति के समान काम करती है। वह मन को जागरित तथा ऐसा प्रशस्त कर देती है कि उसमें हज़ारों अज्ञात भावों का समावेश होता है। जो प्रीति को कुछ दृढ़ तथा विशुद्ध करता है, जो कल्पना की वृद्धि करता है और इन्द्रिय-बोध को तीव्रता देता है, वही उपयोगी है। पृथ्वी की नैतिक परिस्थिति कैसी होती यदि दान्ते, पेत्रार्क, चासर, शेक्सपियर, मिल्टन इत्यादि का आविर्भाव न होता, यह हमारी कल्पना का वहिर्भूत है।"

यह बात विचार करने की है कि कविता का उद्देश उपदेश देना है या आनन्द देना। हौरेस कहते हैं कि कविता के काम दोनों हैं। बाइल्यु और रापिन का भी मत प्रायः यही है। वे कहते हैं कि जो कविता उपयोगी है, वही आनन्द-दायक है। ड्राइडेन कहते हैं कि आनन्द देना यद्यपि काव्य का एकमात्र उद्देश्य नहीं, तथापि उद्देश्यों में वह प्रधान है। आनन्द के साथ साथ वह उपदेश भी देता है।

आनन्द का स्वरूप क्या है? यह नहीं कहा जा सकता कि दुःख का अभाव ही आनन्द है। निरपेक्ष दुःख संभव है, किन्तु निरपेक्ष आनन्द सम्भव नहीं। हमें निरपेक्ष आनन्द नहीं मिलता। इन्द्रियों से प्राप्त अनुभूतियों में से किसी किसी को आनन्द की अनुभूति कह सकते हैं, परन्तु उसमें भिन्नता पाई जाती है। भूख के समय मिठाई खाने से आनन्द मिलता है, किन्तु तृप्त हो जाने पर मिठाई की गंध भी सुखद नहीं होती। सुस्वर-लहरी भी अधिक समय तक चलती रहने से कष्ट-दायक होती है। ऐसा भी कहा जाता है कि आनन्द इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तुओं के सदृश

कोई अनुभूति ही नहीं, परन्तु वह अनुभूतियों का परिणाम है। प्रत्येक उद्दीपना का एक निर्दिष्ट परिणाम है। जब वह परिणाम सफल होता है तभी वह आनन्द-दायक होता है। यह परिणाम उद्देश्य से भिन्न है। यदि आनन्द-लाभ के उद्देश्य से कोई कविता वा उपन्यास पढ़ा जाय, तो वह उद्देश्य सफल नहीं भी हो सकता।

वाह्योद्दीपन से प्राप्त अनुभूति सुखद या दुःखद हो सकती है। किसी परिचित वस्तु के पर्यवेक्षण के पीछे बहुतों के चित्त-पट पर उस वस्तु की प्रतिच्छाया अंकित होती है। इन प्रतिच्छा-याओं के द्वारा प्रत्यक्ष वस्तुओं की अनुपस्थिति में भी उनकी अनुभूति हो सकती है। ऐसी अनुभूतियाँ भी सुखद या दुःखद हो सकती हैं। जिस सुखद या दुःखद अनुभूति के द्वारा मन वाह्य विषय के प्रति आकृष्ट होता है, उसे उसकी चित्ताकर्षक शक्ति कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान के व्यापार में उपस्थित वस्तु की अनुभूति के अतिरिक्त, उसके साथ-साथ मन में पूर्वजात मान-सिक प्रतिच्छाएँ भी उदित होती हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान में समसाम-यिक नाना प्रकार की इन्द्रियानुभूतियों का मिश्रण रहता है। समकालिक अनुभूतियाँ जिस परिमाण में समगुण-विशिष्ट होती हैं, उनकी मिश्रण-क्रिया उतनी ही सम्पूर्ण तथा द्रुत होती है।

स्नायविक क्रिया पर पूर्व-ज्ञात विषयों का पुनरुत्पादन निर्भर है। अतएव किसी विषय को स्मृति-पट पर फिर से उपस्थित करने के लिए जिन स्नायविक क्रियाओं के द्वारा पहले उस विषय की उपलब्धि हुई थी, उनकी पुनरावृत्ति आवश्यक है। अभ्यास के द्वारा पुनरावृत्ति सम्भव है। अनुपस्थित विषयों की प्रतिच्छायें स्वाभाविक क्रियाओं के द्वारा स्मृतिपट पर उदित होती हैं। समकालिक अथवा अनुक्रमिक धारणाओं में ऐसी एक संहति

बँध जाती है, जिसके द्वारा एक विषय की धारणा अन्य विषय की धारणा को उद्दीप्त कर देती है। जिन सब स्नायविक विधानों के कारण एक विषय से दूसरे विषय का पुनरुदय होता है, उनमें भी संहति संघठित होती है। संहति के द्वारा ही हमारे अभिज्ञता-लब्ध ज्ञान परस्पर सम्मिलित होते हैं। हम एक प्रकार से चिंता-संहति के दास हैं।

प्रत्यक्ष प्रतिच्छाया इन्द्रिय-सन्निकट वस्तु से उत्पन्न संस्कार है। परोक्ष प्रतिच्छाया स्मृति-शक्ति की सहायता से प्रत्यक्ष का पुनरुदय है। अतएव प्रत्यक्ष प्रतिच्छायें जितनी स्पष्ट होती हैं, परोक्ष प्रतिच्छायें उतनी नहीं होती। दोनों में कुछ भिन्नता पाई जाती है। आधुनिक मनोविज्ञान का सिद्धान्त यह है कि पूर्वजात अभिज्ञाताओं के द्वारा हम वस्तुओं की उपलब्धि के लिए तैयार हुए हैं. उन्हीं को हम प्रत्यक्ष कर सकते हैं, और उन्हीं की प्रतिच्छायें मन में रख सकते हैं।

भाव-संहतियाँ दो नियमों के अधीन हैं—सादृश्य और सामीप्य। किसी विषय के स्मरण के समय, सम्पर्कित घटनाओं की सहायता से जो मन में उदित होती हैं वह हैं सादृश्य-मूलक भाव-संहति। एक ही स्थान या काल में जिन घटनाओं का उद्भव होता है, उनमे सामीप्य-मूलक भाव-संहति का सम्पर्क है। कार्य-कारण-सम्बन्ध सामयिक सामीप्य का दृष्टान्त है। सामीप्य के नियमों से उत्पन्न मानसिक क्रियाओं की उतनी सफलता नहीं होती, जितनी सादृश्य से उत्पन्न मानसिक क्रियाओं की।

श्रवणेन्द्रिय से प्राप्त ज्ञान की अपेक्षा दर्शनेन्द्रिय से प्राप्त ज्ञान दृढ़तर होता है। शाब्दिक स्मृति-शक्ति की सहायता से हम

शब्दों को केवल स्मरण कर सकते हैं, परन्तु उनके अर्थबोध के प्रति हमारा लक्ष्य नहीं रहता। परन्तु यौक्तिक स्मृति की सहायता से हम धारणाओं का पुनरुद्दीपन कर सकते हैं। प्रायः शब्दों का कोई न कोई अर्थ रहता है। शब्द का कोई अर्थ हमारे ज्ञान का विषयीभूत होने से, उसकी छाया हमारे मन में उपस्थित होती है। युक्ति-सिद्ध स्मृति-शक्ति के द्वारा प्रतिच्छायें नियम के साथ विन्यस्त होती हैं। शाब्दिक स्मृति उतनी स्थायी तथा उपयोगी नहीं होती जितनी यौक्तिक। शाब्दिक स्मृति के साथ गत्युत्पादक अभ्यास का बहुत सादृश्य है। अर्थ न जानकर कविता कंठस्थ करना और जिह्वा ओष्ठादि के संचालन की शिक्षा एक ही है।

अतीत घटनाओं की मानसिक प्रतिच्छायों से हमारा वर्तमान चिन्ता-मण्डल गठित होता है। मन की परिणति पर हमारी चिन्ता प्रणाली सब प्रकार से निर्भर है। बाह्योद्दीपक की अनुपस्थिति में भी उसकी प्रतिच्छाया मन में उदित होती है। लोग सब ज्ञानेन्द्रिय-सम्पर्कित प्रतिच्छायाओं का उत्पादन समान रूप से नहीं कर सकते। कोई गणित-विषयक, कोई इतिहास-विषयक, कोई काव्य-विषयक प्रतिच्छायें सहज में ही उत्पादन कर सकता है। नाना प्रकार की मानसिक प्रतिच्छायें उत्पन्न करने की शक्ति जिसकी जितनी अधिक है, उसकी चिन्ता-शक्ति के उपादान उतने ही अधिक हैं। मानसिक प्रतिच्छायाओं से नूतन चिन्ता-जाल गठित होता है। यही पुनरुत्पादन-कारिणी कल्पना-शक्ति का आधार है।

पूर्व-पुरुषों की सञ्चित जातीय अभिज्ञता के फल-स्वरूप कुछ स्वाभाविक संस्कारों के साथ शिशु भूमिष्ठ होता है। इन

स्वाभाविक संस्कारों को सहज ज्ञान कहते हैं। आहारान्वेषण, आत्मरक्षा, रोना, हँसना, उठना, बैठना, बोलना इत्यादि सहजगम्य वृत्तियाँ हैं। सहज वृत्तियाँ कुछ मनोभावों से सम्बन्ध रखती हैं, जिनको भाव वृत्तियाँ कहते हैं, जैसे—क्रोध, डाह, भय, लज्जा, अनुकरण, सहानुभूति, प्रेम, सामाजिकता इत्यादि। भाव-वृत्ति जब तीव्र होती है, तब वह आवेग कहलाती है। भाव वृत्तियों में कुछ प्रीतिकर होती हैं और कुछ अप्रीतिकर। जब हम कल्पना, स्मृति, इच्छा इत्यादि मानसिक क्रियाओं को ठीक ठीक सम्पन्न कर सकते हैं, तब हमारी मानसिक अवस्था प्रीतिकर होती है। कुछ भाव-वृत्तियाँ ऐसी हैं, जिनके साथ ज्ञान-वृत्ति मिश्रित रहती है। इनको सुकुमार-भाव वृत्तियाँ (Sentiments) कहते हैं—जैसे सहानुभूति, उपचिकीर्षा, मित्रता, प्रेम, स्वदेशानुराग, धर्मपरायणता, ज्ञानप्रियता, नीति-प्रियता, सौंदर्य-प्रियता इत्यादि। सुकुमार भाव-वृत्तियाँ भाव-प्रधान अभिज्ञता की सहायता से उत्पन्न होती हैं। हमारी साधारण अनुभवावस्था किसी कारण से उद्वेलित होने से आवेग में परिणत होती है। स्मरण-शक्ति और कल्पना-शक्ति के द्वारा मानसिक आवेग पुष्ट होते हैं।

भावना और कल्पना

जिस मानसिक शक्ति के द्वारा हम वाह्य इन्द्रियों की तत्कालिक सहायता न लेकर किसी नए विषय का मानसिक चित्र उत्पन्न करते हैं वह या तो भावना है या कल्पना। भावना या कल्पना के द्वारा हम अभिज्ञता मूलक मानसिक प्रतिच्छायाओं में से आवश्यक उपादानों का संग्रह कर, उनसे एक नई मानसिक प्रतिच्छाया गठित कर सकते हैं। भावना या कल्पना में पहिले एक

अस्पष्ट छाया मन में उदित होती है। तब जो प्रतिच्छायें पहिले से मन में संचित हैं, उनको खोजकर उनमें जिनके द्वारा अभीष्ट प्रतिच्छाया गठित हो सकती हैं, उनकी सहायता से प्राथमिक भावना या कल्पना गठित करते हैं। यह पूर्णतया सफल होने से छाया स्पष्ट होती है।

भावना (Fancy) और कल्पना (Imagination) में भेद है। भावना विनोद-मूलक है। भावना में गुरुत्व का अभाव है। भावना के द्वारा जीवन के गम्भीर सत्यों का अनुसंधान नहीं होता। हम भावना को एक प्रकार से ख्याल आख्या दे सकते हैं। साधारण जीवन-यात्रा के निमित्त जितनी जीवन-शक्ति आवश्यक है, अनेक में उससे अधिक जीवन-शक्ति रहती है। अतिरिक्त जीवन शक्ति का वे कैसा उपयोग करते हैं? कोई व्यायाम इत्यादि अंगचालन में, कोई ताश गंजीफा इत्यादि क्रीड़ा में, कोई संगीत में, कोई पुस्तक-पाठ में, कोई धर्म-चर्चा में और कोई भाववृत्तियों के परिचालन में, इस अतिरिक्त शक्ति को व्यय करते हैं। शेष लोग अवसर पाने से अतीत मानसिक प्रतिच्छायाओं को लाकर उनके संयोग-वियोग के द्वारा अज्ञात-पूर्व चित्रों को गठित कर दिल बहलाते हैं। इन चित्रों को भावना कहते हैं। भावना से चेतना सक्रिय रहती है, परन्तु इसके चित्रों के निर्माण में चिन्ता-शक्ति का अधिक प्रयोग नहीं करना पड़ता, केवल नवीनता तथा विविधता का आस्वादन मिलता है। भावना में यथार्थ उद्भावनी शक्ति की गम्भीरता तथा सम्पूर्णता नहीं है। कथा-कहानी, वाह्य आडम्बर-पूर्ण रचनाएँ भावना-प्रसूत हैं। भावना से निर्मित कविताएँ उच्चश्रेणी की कविताओं में परिगणित नहीं हो सकती। इनसे केवल मानसिक खेल वा चातुर्य का आनंद

मिलता है। विहारी के दोहे इस श्रेणी के अन्तर्गत किये जा सकते हैं।

भावना से कल्पना का स्थान अधिक उच्च है। इसके प्रयोग में ऐसी भाव-मूलक चित्र-परम्परा उत्पन्न होती है जो मानो आँखों के सामने नाचती है। असीम-शक्तिमान के भाव-सिंधु से संजीवनी-शक्ति उद्भूत होती है और उस संजीवनी-शक्ति से जैसे विश्व का विकास होता है, उसी प्रकार ससीम-शक्तिमान शिल्पी-चित्त के भावों से प्रकृति और मानव-जीवन-निहित सत्यों का अनुभव होता है। जगत में स्रष्टा दो ही हैं—एक परमेश्वर और दूसरा शिल्पी। जो भाव कवि हृदय में आपसे आप सञ्चरित होते हैं, उन पर कवि अपनी इच्छा-शक्ति का प्रयोग कर उनको अभीष्ट आकार देता है। भावना इस प्रतिमा के वाह्य उपादानों तथा आभूषणों की आयोजना करती है, परन्तु इसकी प्राण-प्रतिष्ठा कल्पना के मंत्र-योग से ही होती है। जिस भाव की अभिव्यक्ति कविता में होती है, वह उसके रोम रोम में व्यक्त होकर मानो एक सजीव मूर्ति बन जाती है।

काव्य (Poetry) और विज्ञान (Science) भी कल्पना की संतान हैं, परन्तु विज्ञान से जिन सत्यों का आविष्कार होता है, वे केवल मानव-मन से संबंध रखते। उनमें मानव-हृदय के आवेगों का नाममात्र संकेत भी नहीं मिलता। परन्तु काव्य से मानव-जीवन के सुख-दुःख, आशा-आकांक्षा, हित-अहित, उत्साह-आनन्द, सहानुभूति, अनुराग, प्रीति, भक्ति, सौंदर्यानुराग, वीभत्सता-विराग इत्यादि आवेगों की उपलब्धि होती है। काव्य इन्हीं सब वेदनाओं के भाव-चित्र निर्माण करता है। विज्ञान वास्तविकता-मय विश्व को अविच्छिन्नता-मूलक (Abstract)

नियमों का एक ठाट बनाकर उसको सामान्य-सूचक भाषा के द्वारा व्यक्त करता है। किन्तु काव्य अविच्छिन्न भावों से वास्तव रूप गठित करता है, जिनके समझने में विचार वा तर्क की आवश्यकता नहीं होती। काव्य की अनुभूतियाँ एकाएक मन में प्रभाव उत्पन्न करती हैं। कल्पना की सहायता से कार्य को प्रकृति तथा मानव-जीवन के रहस्य प्रत्यक्ष हो जाते हैं। स्वाभाविक माधुर्य-बोध तथा प्रकाशन-पटुता रहने के कारण यथार्थ कवि अपने भावों को योग्य और मनोज्ञ भाषा में ग्रथित करने को समर्थ होता है। अपने हृदयोत्थित भावों को आकार देने में उसको भाषा नहीं खोजनी पड़ती, वह आपही आप आ जाती है।

आनन्द, सौन्दर्य और रुचि

जब प्रकृति की किसी सुन्दर वस्तु पर ध्यान दौड़ता है, तब मन आनन्द से अभिभूत हो जाता है। विशाल पर्वतों की श्याम शोभा, दिगन्तप्रसारी समुद्र का उत्ताल नर्तन, नक्षत्र-खचित नभोमंडल की असीम रमणीयता, वन-विचारिणी निर्झरिणियों का कल निनाद, विचित्रच्छद विहङ्गों का मधुर कूजन, शारद-पूर्णेन्दु की उदय कालीन अपूर्व शोभा, आकाश के नीलायतन पर इन्द्र-धनुष की सप्त-वर्णोज्ज्वल छवि, शिखियों का कलाप विस्तार-पूर्वक उद्धत नृत्य, कुसुमों की नयनाभिराम सुषमा तथा प्राणोन्मादक परिमल इत्यादि, इत्यादि-जनित सुखानुभूतियों से हमारा खिन्न चित्त स्निग्ध हो जाता है। ऐसे-ऐसे स्थायी

सौन्दर्य कभी पुराने नहीं होते। इसी कारण कीट्स् ने लिखा था :—

वस्तु सुरूप है चिर सुखदाई।
शोभा बढ़त, नहिं जात नशायी ॥*

अतएव स्थूल दृष्टि से कहा जा सकता है कि जिससे आनन्द की अनुभूति होती है, वही है सुन्दर ? आनन्दान्वेषण है मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति। किन्तु मनुष्यों की अनुभूतियों में भिन्नता भी पायी जाती है। एक ही वस्तु को कोई सुन्दर कहता है, कोई उसका विपरीत। भिन्न रुचिर्हिलोकः। क्या रुचि का कोई नियामक नहीं ? रुचि के विषय में मनस्तत्वविदों तथा समालोचकों ने बहुत आलोचना की है, और कहा है कि सब किसी को रुचिविषयक स्वाधीनता है। रुचि से सम्बन्ध रखते हुए विषयों में प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है। कला-राज्य में एक मात्र नियामक है प्रतिभा, अर्थात् शिल्पी की विचार-शक्ति ?

परन्तु व्यक्तिगत स्वाधीनता की सीमा अवश्य रहनी चाहिए, नहीं तो वह यथेच्छाचार में परिणत हो सकता है। जिस रुचि से समाज की अवनति हो, उसकी पोषकता नहीं की जा सकती जो व्यक्ति आदर्श से भ्रष्ट है, उसकी निन्दा करने में किसी प्रकार का संकोच न होना चाहिए। अनुभव से ज्ञात होता है कि प्रत्येक जाति में कुछ चिन्ताशील मनुष्य रहते हैं, जिनकी व्यक्तिगत सम्मतियों की औसत से रुचि नियमित हो सकती है। सामयिक पत्रों से इन सम्मतियों का पता मिल सकता है। इससे भी अधिक प्रभावशाली है जनता का मत। किन्तु जन-

* A thing of beauty is a joy for ever, its loveliness increases, it will never pass into nothingness.

मत में आदर्श का अभाव रहता है। तब क्या उपाय है? इस अवस्था में रुचि को युक्ति या तर्क के द्वारा सुनियन्त्रित करना पड़ता है। तर्क की सहायता से समालोचक निष्पक्ष होकर विचार कर सकता है। पक्षपात-शून्यता समालोचक का प्रधान धर्म है। नये समालोचक का गुरुकरण भी आवश्यक है। किसी बड़े समालोचक के आदर्श से जितना आलोक प्राप्त हो सके, उसकी सहायता से भी अपना व्यक्तिगत मत गठित करने की सहायता मिल सकती है। प्रथम शिक्षार्थी के लिए ललितकलाएँ आदर्श मूलक हैं। नवीन शिल्पी के विवेचन में दो बातों का विचार आवश्यक है—एक, वह किस वस्तु को आदर्श बनाना, अर्थात् किस वस्तु को व्यक्त करना, चाहता है; दूसरा, इस कार्य का कैसा प्रभाव मन पर पड़ता है। नवीन शिल्पी का पहला काम केवल यही है कि वह देखे कि जिस बाह्य वस्तु की प्रतिकृति वह अङ्कित करना चाहता है, वह ठीक-ठीक अङ्कित हुआ है या नहीं। प्रत्येक कला की शिक्षा में कुछ प्राथमिक नियमों का पालन आवश्यक होता है। चित्रकार को चाहिए कि वह पहले दूरत्व तथा घनत्व को यथावत परिस्फुट करे, और आलोक तथा छाया का यथोचित नियोग करना सीखे। राग-रचयिता के लिए स्वरग्राम तथा तालमान के यथोचित विन्यास का ज्ञान आवश्यक है। कवि को चाहिए कि वह स्वच्छन्दता से शब्दों को छन्दों में निबद्ध करने का कौशल सीखे। और जो इन कलाओं में से किसी का समालोचक होना चाहता है उसको शिल्पी के समान मानसिक धारणा आवश्यक है।

रुचि के विषय में यथार्थ आदर्श क्या है? बड़े-बड़े चारु-शिल्प-विशारदों की कृतियों का सूक्ष्म निरीक्षण कर अपनी

धारणा बना लेने के अतिरिक्त आदर्श निरूपण करने का दूसरा उपाय नहीं। कोई कविता उच्च कोटि की केवल इसलिए नहीं कि उसमें व्यक्तिगत प्रतिभा-जनित उक्तियाँ पाई जाती हैं, वरन् इसलिए कि उसमें समाज में रहनेवाले व्यक्तियों की आत्मा तथा विवेक की स्थायी ध्वनियाँ मिलती हैं। अनेक बड़े-बड़े प्राचीन कवि हमारे गुरु माने गये हैं इसलिए कि वे दुःखदारिद्र्य के भीतर पले हुए मनुष्यों की चिन्ताओं तथा आवेगों का स्थायी रूप रख गये हैं।

कला में प्रकृति का ठीक-ठीक अनुकरण असम्भव है, कारण प्रकृति और कलाओं की कायाओं के उपादानों में भिन्नता है। उनके रूप में भी भिन्नता है। कलाओं के रूपों के द्वारा नाना प्रकार के रस अवश्य व्यक्त होते हैं, किन्तु ये प्रकृति के ठीक-ठीक रूप नहीं। किसी विषाद मूलक नाटक में यदि हत्या का दृश्य दिखाना हो तो क्या रङ्गमञ्च पर सचमुच ही एक मनुष्य की हत्या कर मानव जीवन का अनुकरण करना होगा? नाटक में कवि अपने भावों के अनुसार घटनाओं तथा चरित्रों का विन्यास कर दर्शकों के सम्मुख उपस्थित करता है। प्रकृति में वस्तुएँ वा घटनाएँ जिन रूपों में पाई जाती हैं, उनके अनुकरण में कवि अपनी कल्पना के अनुसार उन्हें कुछ परिवर्तित करके वा उनके साथ कुछ अतिरिक्त वस्तु संयोजित करके चमत्कार उत्पन्न करता है। कोई-कोई कहते हैं कि इस परिवर्तन वा संयोजन का नाम है सौन्दर्य। कोई कोई इसे विशिष्टता कहते हैं। किन्तु इस विषय में मतद्वैध नहीं, कि ललित कलाओं का उद्देश्य है कि वह भाव-राज्य में एक ऐसी सम्पूर्ण मूर्ति गठित करे जो वास्तव राज्य की किसी वस्तु के सदृश हो।

अतएव अनुकरण में कवि जिस अतिरिक्त भाव का समावेश करता है, उससे यदि निपुण समालोचकों तथा जन-साधारण के—मन में आनन्द उत्पन्न हो, तो कविता का उद्देश्य सफल माना जा सकता है। जिस वस्तु से इस प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है, वही सुन्दर है। अतएव सौन्दर्यानुभूति ही रुचि का नियामक है।

आनन्द का विवेचन एक दूसरी ओर से भी किया जा सकता है। आनन्द का उद्देश्य क्या है? क्या कल्पना-मूलक आनन्द ही चरम उद्देश्य है? क्या समाज के साथ व्यक्तिगत आनन्द का कोई सम्बन्ध नहीं? इस विषय में दार्शनिक विद्वानों के सिद्धान्त भिन्न भिन्न हैं। अरस्तू की राय यह है कि जिस आनन्द से समाज को किसी प्रकार का उपकार न पहुँचे, वह उच्च आदर्श का आनन्द नहीं। अतएव कला और नीति में निकट सम्बन्ध है। कान्त, हेगेल इत्यादि जर्मन दार्शनिकगण कलासम्भूत आनन्द को निरपेक्ष आनन्द कहते हैं। किन्तु एक बात पूछने योग्य है—क्या समालोचना का जन्म पहले हुआ था या कलाओं का? क्या होमर, कालिदास, शेक्सपीयर ने दार्शनिकों के सौन्दर्य विषयक मतों का अध्ययन कर अपने-अपने काव्य लिखे थे? उनकी स्थायी-आनन्द-प्रद रचनाओं को पढ़कर मालूम होता है कि उन्होंने जिन-जिन पन्थों का अवलम्बन किया था वे ही ठीक हैं। उन्होंने अपने-अपने आन्तरिक आलोक से ही अपना-अपना पथ निकाल लिया था।

आदर्श-सौन्दर्य के एक निरपेक्ष आकर हैं सच्चिदानन्द परमात्मा। किन्तु उनसे जो रश्मियाँ निर्गत होती हैं, वे मानव-मन के भीतर होकर प्रतिभात होती हुई विकृत हो जाती हैं,

और जो लोग उस आदर्श के अनुकरण में व्यस्त हैं, उनके सामर्थ्य के अनुसार सहस्र रूपों में प्रतिविम्बित करते हैं। परमात्मा ही सौन्दर्य के आदर्श हैं। शिल्प-जात वस्तुएँ जिस परिमाण में इस आदर्श को पहुँचती हैं, उसी परिमाण में वे सुन्दर हैं। प्रकृति में परमात्मा का सौन्दर्य परिस्फुट है—इसलिए शिल्पीगण प्राकृतिक वस्तुओं में सौन्दर्य का अनुभव करते हैं, और उनको अपने-अपने विषयों का आदर्श मानते हैं।

प्रत्येक जाति ने आध्यात्मिक तथा अज्ञात विषयों को अपने-अपने मानसिक आदर्शों के अनुसार कलाओं के द्वारा व्यक्त किया है। इन भावों का आदर्श उनको भीतरी अनुभव से मिलता है, और इन आदर्शों से उनकी रुचि का अनुमान होता है। जो कुछ उत्कृष्ट और सुन्दर है, उसकी जातिगत अनुभूतियों के प्रकाशन में जिस कला-प्रावीण्य की शक्ति अधिक व्यय हुई है, उस जाति में उसकी प्रसिद्धि होती है। प्रत्येक जाति के जीवन की आदिम अवस्था में—जब तक उसमें अपनी शक्ति अज्ञात रहती है—ये अनुभूतियाँ मेघमुक्त तथा विशुद्ध रहती हैं। उस समय संस्कार स्पष्ट रहते हैं, और उनकी सत्यता पर संशय उपस्थित नहीं होता। तब शिल्पी रूप देने के निमित्त, उपयुक्त विषयों को भ्रमशून्यता से निर्वाचित करता है। प्रत्येक संस्कृति-विशिष्ट जाति में—जिसमें उच्च कल्पना शक्ति है—एक ऐसे समय का परिचय मिलता है, जब उसमें अच्छी-अच्छी रचनाएँ (शिल्पप्रसूत वस्तुएँ) उत्पन्न हुई हैं। किन्तु क्रमशः उस जाति के जीवन में वह समय आता है, जब सहज ज्ञान की अवस्था से बहिर्गत होकर वह जटिल अवस्था में प्रवेश करती है। तब

उसको बाह्य जगत की सन्देह-हीन अनुभूतियाँ सभ्यता के दूषित वातावरण में मलीन तथा विकृत हो जाती हैं।

किन्तु जातीय जीवन में आदर्श सम्पूर्ण लुप्त नहीं होता। आदर्श के अनुकरण की इच्छा, कम से कम काव्य की छाया, बलवती रहती है। तब समालोचना का उदय होता है। कभी कवि-सृष्टि और समालोचना साथ चलती हैं, कभी एक दूसरी से पिछुवा जाती है। एक ओर समालोचना-विषयक रुचि-परिवर्तित होकर कला की प्रगति में बाधा डालती है। दूसरी ओर रुचि-विषयक धारणाओं पर जातीय चरित्र का प्रभाव फैल कर उसकी धारा बदल देता है। इस विभिन्नता के भीतर भी एकता पाई जाती है। समालोचना की सहायता से कलानिहित सार्वजनीन सत्यों का आविष्कार होता है और अत्युच्च प्रतिभा-सम्पन्न मनुष्यों की अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं? कौन-कौन अनुभूतियाँ अपर किन-किन अनुभूतियों से अधिक मूल्यवान हैं इसका सर्वोत्कृष्ट पता समालोचक को कलाओं के निरीक्षण से ही मिलता है। उधर समालोचना की रीति से समाज के उत्कर्ष वा अपकर्ष के क्रम का परिचय मिलता है।

हमने ऊपर कहा है कि जिससे सभों के मन में आनन्द मिले, वही सुन्दर है। जिस आनन्द का उल्लेख किया है, वह स्थूल वा इन्द्रिय-तृप्ति-सम्भूत आनन्द नहीं। वह है एक इन्द्रिय-निरपेक्ष अतीन्द्रिय अनुभूति। शत्रु के एक आदर्श-सौन्दर्य-प्रकाशक चित्र से हमारे मन में हर्ष का उदय नहीं होता। उधर पुत्र की कदाकार प्रतिकृति देखकर माता का आनन्दोद्भव होता है। तब सौन्दर्य का क्या लक्षण है? इस प्रश्न के उत्तर में एक व्यक्ति कहेगा कि सौन्दर्यानुभूति में साधारण आनन्द से कुछ

व्यतिक्रम है। अतएव आनन्द का श्रेणी-विभाग आवश्यक होता है। उसका ठीक-ठीक लक्षण करना कठिन है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि आनन्द एक सहजात अनुभूति है—वास्तव अनुभूति से इसका दूर सम्बन्ध है।

प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कान्त ने सौन्दर्य का विश्लेषण यों किया है—

सौन्दर्य से ज्ञान नहीं मिलता, सन्तोष मिलता है। कोई वस्तु रोचक है इसलिए कि उससे किसी इन्द्रिय की तृप्ति होती है। रोचकता, हितकारिता, पूर्णता, उपयोगिता और सत्य के साथ सौन्दर्य का कहीं-कहीं संयोग-स्थल लक्षित होता है। 'सत्य' से 'सुन्दर' का प्रभेद यह है कि 'सत्य' ज्ञान से प्राप्त होता है, और 'सुन्दर' संतोष से। जो वस्तु सुन्दर है, जो रोचक है, जो निरपेक्ष हितकारी (the good in itself) है, जो सापेक्षिक हितकारी (good for something else) है—इन सभों के द्वारा सन्तोष उत्पन्न होता है। शेषोक्त तीन प्रकार के सन्तोष आकांक्षा-निवृत्ति-मूलक हैं। रोचकता का सन्तोष इन्द्रिय-तृप्ति-जनित है, निरपेक्ष हित का सन्तोष नैतिक संकल्प की सफलता-मूलक है। सापेक्षिक हित (उपयोगिता) का सन्तोष परिणाम-दर्शिता की सिद्धि-मूलक है। इन सभों में उद्देश्य पाया जाता है। सौन्दर्य का सन्तोष उद्देश्य-जनित नहीं—वह निरपेक्ष है। इन्द्रिय वा उसके विषय से 'सुन्दर' का कोई सम्बन्ध नहीं। सुन्दर वस्तु से जो सन्तोष मिलता है, वह उस वस्तु के मानसिक प्रतिरूप की उपस्थिति से उत्पन्न होता है। सौन्दर्य का सन्तोष सार्वजनीन है। निरपेक्ष हित से उत्पन्न सन्तोष का भी अनुभव सब कोई कर सकते हैं, पर वह सामान्यता मूलक जाति-ज्ञान

(concept) से प्राप्त होता है । रोचकता तथा सौन्दर्य की अनुभूतियों में सामान्यता-मूलक जाति-ज्ञान नहीं है ।

सामान्य के द्वारा विचार-शक्ति का जो सन्तोष उत्पन्न होता है, वही निरपेक्ष हित है । इन्द्रिय-तृप्ति के द्वारा जो सन्तोष मिलता है, वह है रोचक । जो कुछ बिना सामान्य के सब किसी को निश्चय सन्तुष्ट करता है, वह है सौन्दर्य । नैतिक विचार (Moral judgment) के लिए सब किसी की सम्मति आवश्यक होती है, पर रोचकता के लिए नहीं । ऐसा नहीं कहा जा सकता कि जो कुछ एक व्यक्ति के लिए रोचक है, वह सब के लिए रोचक है । परन्तु, इसके विपरीत, सौन्दर्य सब किसी को आनन्द देता है । सौन्दर्यानुभूति में हमें ऐसी प्रत्याशा रहती है कि सब कोई हमारी रुचि का अनुमोदन करेंगे—प्रमाण की आवश्यकता नहीं, परन्तु सौन्दर्य की अनुभूति में मनुष्यों की रुचि की भिन्नता नहीं । रोचकता की अनुभूति में उनकी रुचि की भिन्नता है ; परन्तु सौन्दर्य की अनुभूति में उनकी होने की समता है । रोचकता वास्तव है—सौन्दर्य मानसिक । रोचकता में अनुभूति पहले है, विचार पीछे ; किन्तु सौन्दर्य में विचार पहले, अनुभूति पीछे । रोचकता की अनुभूति मनुष्य तथा अन्य जीवों में पाई जाती है । सौन्दर्य की अनुभूति केवल मनुष्यों में ही रहती है, इतर जीवों में नहीं ।

कान्त कहते हैं कि कोई वस्तु सुन्दर कहलाती है, जब उसका रूप मानव मन की वृत्तियों में सामंजस्य, और कल्पना तथा बुद्धिवृत्ति में समन्वय, उत्पन्न करता है । जो कुछ रूप के द्वारा सब किसी को निश्चयता से निरपेक्ष सन्तोष देता है, वही है सुन्दर । यह लक्षण स्वाधीन सौन्दर्य के लिए प्रयोज्य है, किन्तु

संलग्न सौन्दर्य के लिए नहीं । रूपज सामञ्जस्य से स्वाधीन सौन्दर्य की अनुभूति होती है । किन्तु संलग्न सौन्दर्य में उद्देश्य की पूर्ति भी आवश्यक है । यहाँ रूप और विषय में समन्वय रहना चाहिए । स्वाधीन वा रूपज सौन्दर्य के उदाहरण हैं फूल, फव्वारे, प्राकृतिक दृश्य । संलग्न वा उद्देश्य-मूलक सौन्दर्य के उदाहरण हैं, इमारतें, मन्दिर ।

स्वाधीन और संलग्न सौन्दर्य के साथ 'विराट' (sublime) की भी आलोचना की जा सकती है । सौन्दर्य अनुभूति में रूप की सीमा है, विराट में सीमा का अभाव है । विराट में देश-मूलक, काल-मूलक, परिमाण-मूलक वा शक्ति-मूलक अतिशयता की अनुभूति रहती है । विराट मानों मनुष्य की इन्द्रिय-शक्ति को उपहास करता है । यह अद्‌भुत रस के अन्तर्गत है । विशालकाय पर्वत, असीम समुद्र, नक्षत्र-मण्डित गगन, विस्तृत अरण्य, प्रबल भूकम्प, आकस्मिक झंझावात, प्रलयकारी जलप्लावन इत्यादि विराट के उदाहरण हैं । विराट में भय के साथ एक प्रकार का रहस्य-जनक दुर्बोध्य आनन्द का भी भाव रहता है । विराट से जी चकरा जाता है ।

कविताओं का श्रेणी-विभाग

अरस्तू ही योरपीय समालोचकों के आदि-गुरु माने जा सकते हैं । वह कहते हैं कि अनुकरण से ही कलाओं की उत्पत्ति हुई है । सब कलाओं में प्रकृति तथा वास्तव जीवन का अनुकरण है—सङ्गीत में प्राकृतिक ध्वनियों के साथ मानवीय चिन्ता, अनुभव और आचरण का संयोग है; नृत्य में प्राकृतिक रूपों

तथा गतियों के साथ कुछ परिमाण में भाव और आचरण का समावेश है ; काव्य में मनुष्यों के कार्यों, चिन्ताओं, आवेगों तथा आचरणों का अनुकरण, सार्थक-शब्द, लय (Rhythm) और एक-तानता (Harmony) की सहायता से व्यक्त होता है। अनुकरण की विभिन्नता के कारण विभिन्न प्रकार के काव्यों—विषादात्मक नाटक (Tragedy), महाकाव्य (Epic poems) और गीति-काव्य (Lyric) की उत्पत्ति हुई है।

मनुष्यों में स्वभाव तथा रुचि की विभिन्नता पायी जाती है। कुछ मनुष्य गम्भीर विषयों की आलोचना में आनन्द पाते हैं—उन घटनाओं और चरित्रों की जिनमें आवेगों की चरितार्थता के कारण भाग्यों का उलट-पलट हो जाता है। परन्तु ऐसे लोग भी हैं जिनकी रुचि हलकापन में है। वे क्षुद्र विषयों, छोटी-छोटी घटनाओं और कुत्सित चरित्रों की आलोचना के द्वारा उन विषयों की हँसी उड़ाकर उन पर अवज्ञा लाते हैं। प्रथमोक्त लोग रामायण, महाभारत इत्यादि विचित्र-घटना-पूर्ण काव्यों से आनन्द पाते हैं, और ऐसे निविड़ शैली के नाटकों से, जिनमें मानव मन के अन्तस्तल-गत आवेगों और मानव-जीवन की करुणा तथा भीतिपूर्ण घोर दुर्दशाओं का वर्णन रहता है।

शेषोक्त लोग उपहासात्मक कविताओं, नाटिकाओं और प्रहसनों के द्वारा नीचता और कुटिलता को उद्घाटित कर और उन पर तीव्र कशाघात दिलवाकर प्रभूत आनन्द उपभोग करते हैं। मनुष्य-जाति की सृष्टि से ही ठट्ठा और उपहास मनुष्य-समाज में जारी है। यह मनुष्य-चरित्र की एक स्वाभाविक वृत्ति कही जा सकती है और नाना आकारों में व्यक्त होते देखा जाता है। उपहास अति कोमल से अति कठोर भाव धारण कर सकता

है, अति कोमल तथा मधुर रूप में स्नेह-वर्षण कर सकता है, (इसके विपरीत) अति कठिन मर्मपीड़ा देकर मनुष्य के मन को जर्जरित करने में समर्थ है। यह कच्चा माल शिल्पजात द्रव्य में परिणत हो सकता है। उपहास साहित्यिक आकार धारण करने से satire (व्यंग) हो जाता है। इसका लेखक शिल्पी है। श्रम-शिल्प में जैसे भले-बुरे कारीगर रहते हैं, उपहासात्मक रचनाओं के भी उच्च तथा निम्न श्रेणी के लेखक मिलते हैं।

किसी चित्र वा किसी सङ्गीत के भिन्न-भिन्न अंशों में सामञ्जस्य पाये जाने से उसके सौन्दर्य की अनुभूति होती है। किन्तु, यदि उसमें सामञ्जस्य का अभाव हो, तो उससे विरक्ति वा हँसी का उद्रेक होता है। देखनेवाले वा सुननेवाले की प्रकृति वा सामयिक मनोभाव के अनुसार विरक्ति वा हँसी का उदय होता है—कोई अप्रसन्न होता है, कोई हँस देता है। कोई समालोचक असामञ्जस्य पर तीव्र आक्रमण करता है, कोई माधुर्य के साथ उपहास करता है।

समाज या व्यक्ति-विशेष में असामञ्जस्य दृष्ट होने से, अर्थात् भ्रम, त्रुटि, दोष वा दुर्नीति लक्षित होने से, उसके संशोधन का प्रयोजन होता है। नाना उपाय से संशोधन हो सकता है—शासन-तन्त्र का आश्रय लेकर, सत्परामर्श के द्वारा, व्याख्यान के द्वारा वा समालोचना के द्वारा। अतएव संस्कार के जितने उपाय हैं, उनमें समालोचना अन्यतम है। नाना जातीय समालोचनाओं में उपहास बहुत शक्ति-शाली है। जब अन्य किसी उपाय से संशोधन असम्भव होता है, तब व्यङ्ग का आश्रय लिया जाता है।

बहुत दिनों से सामयिक पत्रादि में cartoon (व्यंग चित्र)

का व्यवहार प्रचलित है। उपहास ही कार्टून का देवता है। यह हास्य-रस का उद्रेक करता है। कार्टून और व्यंग के उद्देश्य प्रायः समान हैं।

पहले कहा गया है कि दोष का संशोधन ही व्यंग का उद्देश्य है। दोष को उपहासास्पद कर उनका विलोप-साधन ही इस प्रकार की समालोचना का काम है। व्यंग-लेखक कितने ही उच्च भाव के द्वारा प्रणोदित हों—उनका उद्देश्य कितना ही महान् हो, तथापि उनके हृदय के अन्तस्तल में निभृति रूप में अप्रीति वा अवज्ञा लुक्कायित रहती है, और वही उनके शिल्प का आधार है। यदि व्यंग के मूल में यह भाव न रहे, तो वह रसविवर्जित नैतिक व्याख्यान में परिणत होता है। उच्च कोटि का व्यंग लेखक इस भाव को ऐसे नैपुण्य के साथ परिस्फुट करता है, कि पाठक के मन में आनन्द का आविर्भाव होता है। रसिकता ही व्यंग का प्राण है। रस के अभाव से व्यंग गाली हो जाता है। व्यङ्ग का एक अङ्ग है रचना-पारिपाट्य। भाषा के सुविन्यास तथा लालित्य के अभाव से व्यंग बर्बर की टिटकारी में परिणत होता है।

अरस्तू के मत में विषादात्मक नाटक ही सर्वोच्च श्रेणी का काव्य है। विषादात्मक काव्य का आरम्भ एक ऐसी अवस्था से होता है, जिसमें कोई अच्छे स्वभाव का मनुष्य किसी प्रभाव में पड़कर विशेष आवेगों की तृप्ति के उद्देश्य से ऐसे-ऐसे भ्रमात्मक काम कर बैठता है, जिसका परिणाम भयानक होता है। विषादात्मक नाटक में घटना का प्राधान्य रहता है। घटना-चित्रण ही विषादात्मक नाटक का उद्देश्य है। पात्रों के चरित्रों से तथा उनकी परिस्थितियों के क्रमिक परिवर्तनों से घटना की

उत्पत्ति होती है। अतएव वस्तु-विन्यास (Plot) ही नाटक की आत्मा है। कथा-प्रसंग से पात्रों के चरित्र व्यक्त होते हैं। नाटक के विभिन्न अंशों की पृथक् सत्ता नहीं मानी जाती। इनमें जितने अंश रहते हैं, एक प्रकार से उनकी उत्पत्ति परस्पर की सहायता से होती है, और परस्पर का संबंध एक दूसरे पर ऐसा निर्भर रहता है, कि सब मिलकर नाटक में एकत्व उत्पन्न कर देते हैं। विभिन्नता के भीतर एकत्व का अनुभव कराना है। देश, काल और भाव की समता से समग्र ठाट की एकता उत्पन्न होनी चाहिए, और यह चाहिए कि घटना एक सीमाबद्ध स्थान पर, एक सीमाबद्ध काल में, एक ही जाति के भावों से प्रभावित होकर उद्भूत हो।

ग्रीक और लेटिन भाषाओं के काव्यों में अरस्तू प्रदर्शित रीतियाँ अनुसृति हुई हैं। अन्य आधुनिक योरपीय भाषाओं के जिन काव्यों में इस रीति का अनुसरण हुआ है, वे प्राचीन शैली के (Classical) काव्य कहे जाते हैं।

कवित्व-शक्ति उसे कहते हैं, जिसके द्वारा किसी प्रकार का सत्य अनुभूत होकर स्थायी वास्तविक रूप धारण करता है और जो भाषा के द्वारा प्रकाशन-योग्य होता है। सत्य नाना प्रकार से मन में प्रवेश करते हैं और नाना उपायों से व्यक्त हो सकते हैं। अतएव नाना आदर्श की कविताएँ पायी जाती हैं।

कवित्व के लिए उपादान-संग्रह की एक रीति यह है कि कवि बाहरी प्रकृति में वस्तुओं की आकृतियों का तथा मनुष्यों के आचरणों का सूक्ष्म निरीक्षण कर, और उनको अपनी स्मृति में रख, उनसे प्रकृति तथा मनुष्य-जीवन के साधारण भावों का

संग्रह करे, तब वह इन भावों के नूतन तथा अप्रत्याशित संयोगों को इस प्रकार से प्रकाशित करे कि पूर्व-ज्ञात साधारण बातें भी विस्मयकर और शिक्षाप्रद मालूम हों। एक श्रेणी की कविता की उत्पत्ति इस प्रकार से होती है। इसमें जो सब सत्य उपस्थित किये जाते हैं, उनका नूतन होना आवश्यक नहीं। पुराने तथा सुगम अनुभवों को नये साँचों में ढालने के कारण, उनका चमत्कार उत्पन्न होता है। इस प्रकार की कविताओं को वास्तविकता मूलक (Tealistic) कहते हैं। कबीर, तुलसीदास, रहीम तथा बिहारी की नीति-मूलक अधिकांश कविताएँ इसी श्रेणी की हैं।

काव्य में और एक प्रकार के सत्य पाये जाते हैं, जो कवि की प्रकृति-विषयक तथा जीवन-विषयक सूक्ष्मानुभूति से मिलते हैं। ये सत्य उसे चेष्टा तथा इन्द्रियानुभूति से लब्ध नहीं होते। वे अपने आप उसके मन में प्रत्यक्ष होते हुए अयत्न-सम्भूत भाषा में व्यक्त हो जाते हैं। इस प्रकार के नूतन सत्यों का अनुभव करने की शक्ति ही उच्च कोटि की प्रतिभा का परिचायक है। शेली कहते हैं कि चेष्टा के द्वारा कोई मनुष्य कवि नहीं हो सकता। कीट्स की उक्ति है कि जैसे वृक्षों में पत्र स्वभाव से ही उद्गत होते हैं, उसी प्रकार कविता यदि किसी व्यक्ति में आप से आप न आयी, तो उसका न आना ही अच्छा है। बाह्यानुभूतिशून्य भावावेश (Inspiration), मौलिकता (Originality) तथा सत्यदर्शन (Vision) जिन कविताओं में मिलते हैं, उनको कल्पना-मूलक या भाव-प्रधान (Romantic) कविताएँ कहते हैं। वास्तविकता-मूलक (Realistic) कविताएँ प्राचीन-धारात्मक (Classical) तथा भाव-प्रधान (Romantic) दोनों प्रकार की

कविताओं के अन्तर्गत हैं। भाव-प्रधान (Romantic) कविताओं की जननी है कल्पना।

यह अवश्य कहना चाहिए कि कवि प्रत्येक मुहूर्त्त और अपने रचित काव्य के प्रत्येक अंश में उच्च कविता-शक्ति का परिचय नहीं दे सकता ; किन्तु अन्तर्दृष्टि की झलकें प्रायः उनमें दिखायी देती हैं। हाँ, उनके प्रकाश के निमित्त स्थान-स्थान पर चेष्टा तथा कौशलावलम्बन के चिन्ह दृष्टिगोचर होते हैं। परन्तु चेष्टा तथा कौशल के द्वारा उच्च कोटि की कविता नहीं बन सकती।

कल्पना-मूलक भावप्रधान कविता की चिन्ताओं में कभी-कभी अतीन्द्रियता, दार्शनिकता, रहस्यवादिता, अवास्तविकता की प्रवणता भी दृष्ट होती है। कबीर, जायसी, मीराबाई, तुलसीदास, सूरदास की कविताओं में कल्पना के वास्तव रूप प्रायः मिलते हैं। भाव-प्रधान कविताओं में तीक्ष्ण बुद्धि का परिचय पाने से बहुत लोग आनन्द अनुभव करते हैं। नैषध-काव्य अब भी संस्कृत पंडितों में और बिहारी के दोहे हिन्दी-भाषा-भाषियों में, बहुत समादर पाते हैं। किन्तु इस नवीन युग में लोग कविता को दूसरे दृष्टि-कोण से देखने लगे हैं। लोग उन रचनाओं के प्रति धावित होते हैं, जिनमें आवेग की प्राणस्पर्शिता है, और कल्पना की अबाध गति। अनुप्रास और यमक में अब लोगों की रुचि घट गयी है। अतिशयोक्ति अब निकृष्ट कल्पनाओं में गिनी जाती है।

ऊपर कहा गया है कि कविता प्रकृति के रहस्यों तथा मानव-जीवन की वेदनाओं का वर्णन है। कबीर ने अपने समय के हिन्दू और मुसलमान समाजों के धर्माचरणों में

वाह्याडम्बर तथा कपटता प्रत्यक्ष करके व्यथित हो अपनी कविता में इन्हीं विषयों का अवलम्बन कर लोगों को सत्पथ में चालित करने की, और उनमे यथार्थ ईश्वर-भक्ति प्रतिष्ठित करने की, चेष्टा की थी। जायसी ने "प्रकृति के नाना रूपों के साथ अपने हृदय की एक रूपता दिखायी है" और मानव-जीवन के हर्ष-विषाद की छवि अङ्कित की है। मीराबाई ने गिरिधर गोपाल को एकमात्र पुरुष जानकर प्रकृति को उनकी पत्नी बतलायी है। तुलसीदास के काव्यों में प्रकृति तथा मानव-जीवन के इतने सत्य भरे हैं कि हिन्दी के और किसी कवि में नहीं पाये जाते। सूरदास का मातृ-प्रेम, गोपिका-विरह, दानलीला, रासलीला, भ्रमरगीत इत्यादि में प्रकृति तथा मानव-जीवन के रहस्यों का अति सूक्ष्म विश्लेषण मूर्तिमान है। भावों को रूप देने में जायसी, तुलसीदास और सूरदास सिद्धहस्त हैं, और कबीर तथा मीराबाई अपने-अपने ढंग के निराले हैं।

-उच्चारण और श्रवण का परस्पर सम्बन्ध

देखना चाहिए कि जिस भाषा के द्वारा कवि अपना भाव व्यक्त करता है, उसका प्रभाव वागयन्त्र तथा श्रवणेन्द्रिय पर कैसे-कैसे पड़ता है, और दोनों प्रभावों का समन्वय कैसे होता है। कविता के स्वर-माधुर्य का निर्भर किसपर है? यदि वागयन्त्र और श्रवणेन्द्रिय की अनुभूतियों का एकत्व मालूम हो, तभी उसे श्रुति-मधुरता कह सकते हैं। शब्द वागयन्त्र से उत्पन्न होते हैं, अतएव वे मुख्यतः वागयन्त्र-जनित अनुभूतियाँ ही उत्पन्न कर सकते हैं। श्रवणेन्द्रिय से उनका गौण सम्बन्ध है। दोनों की

अनुभूतियों में एकत्व कैसे निष्पन्न हो सकता है ? वाग्यन्त्र से उत्पन्न होने के समय शब्दों के द्वारा वायु का कम्पन होता है, और यह कम्पन अपने वा दूसरे मनुष्यों के कान के भीतर पहुँचकर कुछ स्नायुओं को उत्तेजित करता है। यह उत्तेजना मस्तिष्क में पहुँचने पर शब्दों की अनुभूति होती है। शब्द-समूह की अनुभूतियों से मन में चिन्ता गठित होती है। इस प्रकार से बोलनेवाले की चिन्ताएँ सुननेवाले के मन में प्रविष्ट होकर उसकी चिन्ताओं को प्रभावित करती हैं। इस सम्बन्ध में दो बातें विशेष ध्यान-योग्य हैं—(१) एक मनुष्य की वाग्यन्त्र की क्रियाएँ, जिनसे अति सूक्ष्म पेशीजनित अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं, और (२) दूसरे मनुष्य में इन वाग्यन्त्र-जनित क्रियाओं से उत्पन्न ध्वनियों की अनुभूति, जो इस व्यापार के अन्त में उत्पन्न होती है। इन दोनों उपादानों में से किसके कारण हर्षोत्पादक अनुभूति की उत्पत्ति होती है, जिसे स्वर-माधुर्य कहते हैं ? अभिज्ञता से जाना गया है कि जिन पेशी-क्रियाओं से शब्दोच्चारण होता है, उन्हींके कारण मन में आनन्द का अधिक अनुभव होता है। पढ़नेवाले अथवा बोलनेवाले को रचना-माधुर्य का अनुभव सुननेवाले से अधिक होता है। भावसमूह की अनुभूतियाँ सुननेवाले से बोलने में अधिक शीघ्र उत्पन्न होती हैं। पेशीक्रियाएँ ही मुख्य हैं, श्रवण-क्रियाएँ गौण। पेशीक्रियाएँ ही लय की जननी हैं।

चिन्ता-क्रिया की अनुयायी पेशी-क्रियाओं से शब्द तथा वाक्य उत्पन्न होते हैं। चिन्ता तथा भावों का एक मन से दूसरे में सञ्चालित करने के निमित्त ही भाषा का उपयोग होता है। जैसे भाव हैं, वैसी भाषा होनी चाहिए। भाषा शब्दों का समूह है, और शब्द ध्वनियों का। कुछ ध्वनियाँ कोमल हैं, और कुछ कठोर

जिन ध्वनियों के उच्चारण में पेशी-क्रियाएँ सुगमता से उत्पन्न होती हैं, वे कोमल हैं; जिनके उच्चारण में पेशियों को बाधा मिलती है, वे कठोर। रस के अनुसार भाषा कोमल, कर्कश या इन दोनों के मिश्रण-सम्भूत होती है। भयानक या युद्ध-वीरात्मक भावों के वर्णन के लिए कठोर ध्वनियों का अधिक व्यवहार होता है। शान्त वा मधुर रस में कोमल ध्वनियाँ रहती हैं। विपरीत वर्णों के समावेश से रसभङ्ग होता है। दो वा ततोधिक स्वरवर्णों के एकत्र समावेश से उच्चारण में बाधा पड़ती है। व्यञ्जन वर्ण स्वर वर्ण से कठोर हैं, विशेषकर मूर्धन्य तथा संयुक्त वर्ण।

जो अपने भावों को स्पष्टता से दूसरों के पास व्यक्त कर सकते हैं, उनके वाग्यन्त्र की पेशी क्रियाएँ चिन्ता-क्रियाओं की अनुयायी होती हैं। लिखने के समय भी कवि मन में पेशी-क्रियाओं की गति का अनुभव करता है। वह अपने मन में वक्ता तथा श्रोता दोनों बन जाता है। जिस प्रकार सुननेवाला अपने मन में बोलनेवाले की पेशी-क्रियाओं को दुहराता है, और उसके भावों का अनुभव करता जाता है, उसी प्रकार लिखनेवाला भी मानसिक क्रियाओं के द्वारा वैसा ही करता जाता है। अतएव मानसिक भावों को अनुरूप व्यक्त-ध्वनियों के द्वारा सफलता से प्रकाशित करने की शक्ति उच्च कोटि की मानसिक शक्ति का परिचायक है। प्रतिभा-सम्पन्न कवियों में यह शक्ति रहती है।

विषय, प्रकाशन और रूप

कविता भावयुक्त चिन्ता का प्रकाश है। अतएव समालोचक के लिए तीन बातों का विवेचन आवश्यक है (१) कविता जिस

चिन्ता को प्रकाशित करना चाहती है; (२) उस चिन्ता के प्रकाशन की सफलता और (३) जिस रूप में वह चिन्ता प्रकाशित हुई है। अच्छे कवि के मन में चिन्ता और उसका रूप इस ढंग से मिले रहते हैं कि एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकता। चिन्ता अपना रूप आप बना लेती है। चिन्ता और रूप में एकत्व बना रखना ही कवित्व-शक्ति है। यही शेली का मत है। किन्तु भावों को प्रकाशित करने की सफलता का विवेचन भी आवश्यक है। कला निष्पन्न प्रत्येक वस्तु का एक भाव प्रकाशनात्मक स्वरूप है, जो उसकी व्यञ्जना-शक्ति कही जा सकती है। देखना चाहिए कि किसी आलोच्य-वस्तु की व्यञ्जना-शक्ति कितनी है, अर्थात् उसका भाव-प्रकाशनात्मक स्वरूप कैसा परिस्फुट हुआ है। कोई-कोई कहते हैं इसका परिमापक है शिल्पी का अपना सन्तोष। शिल्पी के मन में जिस परिमाण से सन्तोष होता है, उसी से प्रकाशन की सफलता का अनुमान किया जाता है।

कविता को छन्दोमय रूप देने को शक्ति से प्रकाशन-शक्ति भिन्न है। प्रतिभावान कवियों के भाव पिघलकर अनुरूप लयमय साँचों में ढल जाते हैं। इस व्यापार में उनकी चेष्टा की आवश्यकता नहीं होती।

यह आवश्यक नहीं कि प्रतिभावाला कवि प्रचलित वृत्तों का ही व्यवहार करे। वह अपने भाव के अनुयायी छन्द बना लेता है।

जिस प्रवाह के अनुसार किसी कार्य का क्रम बिना चेष्टा के और बिना बाधा के प्रवाहित होता है—एक चिन्ता दूसरी में, एक भाव दूसरे में, एक आवेग दूसरे में, एक गति दूसरी में, एक आकार दूसरे में स्वच्छन्दता के साथ परिवर्तित होता है, वह

उसका लय कहलाता है। भाषा में, उच्चरित ध्वनि-परम्परा के द्वारा लय प्रकाशित होता है। छन्द है लय का विशेष रूप। लय में है शब्दों और भावों की प्रत्याशा, छन्द में रहती है मात्राओं तथा गुरु-लघु ध्वनियों के प्रत्यागमन की प्रतीक्षा। यह प्रत्याशा वा प्रतीक्षा पढ़नेवाले वा सुननेवाले को अज्ञात रहती है। उसकी तात्कालिक मानसिक परिस्थिति एक विशेष धारा की उद्दीपनाओं के निमित्त प्रस्तुत रहती है। जैसे-जैसे उद्दीपनाओं की तृप्ति होती जाती है, दूसरी-दूसरी उद्दीपनाओं की प्रतीक्षा की जाती है।

गद्य में भाव के अनुरूप वाक्यों की दीर्घता वा क्षुद्रता, उदात्तता वा अनुदात्तता इत्यादि के समीकरण के द्वारा, और पद्य में वर्णों की गुरु-लघुता को तथा निर्दिष्ट मात्राओं की पुनरावृत्ति के द्वारा, आकांक्षा की निवृत्ति होती है। लय का सम्बन्ध ध्वनियों के विन्यास से है, किन्तु एकतानता (Harmony) का सम्बन्ध समग्र के यथोचित विन्यास से। कविता में लय और एकतानता के अतिरिक्त चिन्ता, भाव तथा आवेगों का भी समन्वय रहना चाहिए।

मनुष्य में जैसे शरीर और आत्मा की सुसमवायता रहनी चाहिए, कविता में भी वैसे भिन्न-भिन्न उपादानों का एकत्व रहना आवश्यक है। कवि को चाहिए कि वह अपनी शक्ति के अनुसार विषय-निर्वाचन करे। बड़े-बड़े कवि, जैसे टेनिसन, कीट्स, शेली एक-एक शैली की कविता लिखने में व्यर्थ-मनोरथ हुए थे। मिल्टन की इच्छा थी कि वह "पैराडाइस लौस्ट" को नाटक के रूप में लिखें; किन्तु कुछ दूर तक लिखने के बाद उन्हें यह रूप छोड़ना पड़ा था।

छन्दों में लिखे जाने से कविता रोचक होती है। इस विषय में मतभेद नहीं। परन्तु कविता-रचना के लिए छन्द आवश्यक है या नहीं ? कुछ समालोचक कहते हैं कि किसी रचना में छन्द का व्यवहार होने से ही वह कविता हो जाती है। अन्य मतावलम्बी समालोचकगण कहते हैं कि कविता के लिए छन्द आवश्यक नहीं। सर फ़िलिप सिडनी का यही मत है। संस्कृत भाषा में कादम्बरी गद्य काव्य है। नाटकों में बातचीत प्रायः गद्य में रहती है। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि कविता के लिए छन्द पूर्णरूप से अनावश्यक है। जब अधिकांश बड़े-बड़े कवियों ने अपनी-अपनी रचनाओं में छन्दों का व्यवहार किया है, तब यही यथेष्ट प्रमाण है कि कविता के लिए छन्द आवश्यक है। इसमें सन्देह नहीं कि कविता का एक विशेष रूप रहना चाहिए। छन्दोबद्ध रचनामात्र ही कविता नहीं। यदि उसमें लालित्य, मर्मस्पर्शिता तथा उच्च कल्पना न हो तो वह केवल पद्य नाम का अधिकारी है।

वास्तव जीवन की वर्णना में ही गद्य की उपयोगिता है, किन्तु कल्पना-प्रसूत रचनाओं के लिए छन्दोबद्ध भाषा अधिक उपयोगी है। कल्पना चाहती है कि उसकी सृष्टि ऐसा रूप ग्रहण करे कि सृष्टि और रूप मिलकर एक हो जायँ। छन्दों के द्वारा ही यह सुसमवायता आ सकती है। कविता में व्यक्तिगत भावों के द्वारा सार्वजनीन सत्य व्यक्त होते हैं, जो कवि के मानस-मुकुर में ही प्रतिभात होते हैं। अपनी कविता को कैसा छन्दोबद्ध रूप देना चाहिए इस बात का निर्णय कवि आप ही कर लेता है। यही तो उसकी प्रतिभा है।

अच्छे गद्य में भी लय देखा जाता है। यहाँ कुछ उदाहरण दिये जाते हैं:—

'हा सूर्यकुल आलवाल ! हा हरिश्चद्र हृदयानन्द, हा शैव्याव-लम्ब ! हा वत्स रोहिताश्व ! हा भ्रातृ-पितृ-विपति-सहचर ! तुम हम लोगों को छोड़कर कहाँ गये ! आज हम सचमुच चाण्डाल हुए !......हा निर्लज्ज प्राण, तुम अब भी क्यों नहीं निकलते ! हा वज्र हृदय, इतने पर भी क्यों नहीं निकलता ! अरे नेत्रो, अब तुम्हें और क्या देखना बाकी है।"

'कालाकाँकर भूलने की वस्तु नहीं है। वह छोटा सा रम्य स्थान सचमुच स्वर्ग का टुकड़ा था। उसमें रहने का समय भूस्वर्ग में रहने के समय की भाँति था। चिन्ता बहुत कम थी, वासनाएँ भी इतनी न थीं। विचार भी सीमाबद्ध स्थान में विचरण करता था। पर हाय ! उस समय उस स्थान का हृदय में इतना आदर न था। स्वर्ग में रहकर कोई स्वर्ग का आदर ठीक नहीं कर सकता।"

"गाने के समय मीरा गोविन्दजी के मुख पर अपनी दृष्टि लगाये हुए थी। उसको सुध नहीं थी कि कोई उसका गाना सुन रहा है या नहीं, या कौन किस स्थान पर खड़ा क्या कर रहा है। मीरा अब तक मानों पृथ्वी पर ही न थी—गोविन्दजी के साथ भावराज्य में विचर रही थी। वहाँ केवल गोविन्दजी और मीरा, मीरा और गोविन्दजी थे--दूसरा कोई न था।"

समालोचना की विभिन्न प्रणालियाँ

समालोचना के द्वारा कविता के अंशों तथा गुणों का निर्णय तथा परीक्षा होती है, और जाना जाता है कि वह किस श्रेणी के अन्तर्गत है, और उसमें कौन-कौन से उत्कर्ष हैं जिनके

कारण वह कविता-पद-वाच्य है, और उस श्रेणी में परिगणित होने के योग्य है। समालोचना का उद्देश्य यह है कि कविता में जो अच्छे-अच्छे भाव निहित हैं, उनके समझने में और उनसे लाभ उठाने में जनसाधारण को सहायता मिले। पाश्चात्य तथा संस्कृत साहित्यों में इस उद्देश्य से अब तक बहुत कुछ लिखा गया है, किन्तु यह नहीं प्रतीत होता कि उद्देश्य पूर्णतया सफल हुआ है। प्रत्युत् समालोचना और समालोचक कभी-कभी निन्दा के भाजन हुए हैं।

कहा जाता है कि जो लोग कविता लिखने में विफल-मनोरथ हुए हैं, वे ही अपनी निष्फलता को गोपन करने के लिए समालोचक बन बैठते हैं, और सफल कवियों की कृतियों की अमर्यादा कर अपनी श्रेष्ठता का परिचय देना चाहते हैं। उनकी समालोचना में केवल पक्षपातयुक्त और विचारहीन स्वमत-प्रतिष्ठा की इच्छा प्रकट होती है। ऐसे समालोचकगण समालोचना को अनुचित मार्ग में ले जाते हैं। वे नवीनता का गुण ग्रहण करने को असमर्थ होते हैं, मौलिकता को भग्नोत्साह करने के कारण होते हैं, और अपने काल की मानसिक प्रगति को रोकने को सहायता करते हैं।

आज से सौ वर्ष पहले इंगलैंड का यही हाल था। परन्तु अब समालोचना की धारा बदल गयी है। यद्यपि बहुतों में कविजनोचित सृष्टि-शक्ति का अभाव है, तथापि समालोचकों में कविता-विषयक यथेष्ट सूक्ष्मदर्शन रहता है, जिसके द्वारा वे किसी कविता का मूल्य जाँचने को समर्थ होते हैं, और काव्य-पाठकों के विचारों को विशुद्ध मार्ग में परिचालित कर सकते हैं, जिससे वे कविता के दोषगुणों की ठीक-ठीक धारणा कर सकें।

आधुनिक काल में इंगलैंड में मैथ्यु आर्नल्ड ने समालोचना का सबसे अधिक गौरव बढ़ाया है। उन्हीं के कारण समालोचना अब साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग समझी जाती है। वह कहते हैं कि पुस्तकों तथा लेखों की संख्या इतनी बढ़ गयी है और दिनोदिन बढ़ती जा रही है कि साधारण लोगों के लिए उतना पढ़ना असम्भव है। इस हेतु ऐसे योग्य विद्वानों की आवश्यकता है, जो यह बता सकें कि उनमें से कौन-कौन सी पुस्तकें पढ़ने योग्य हैं। समालोचकगण ही ऐसे शक्ति-सम्पन्न मनुष्य हैं। पृथ्वी में जो कुछ सर्वोत्कृष्ट समझा जाता है, समालोचना उसी की पक्षपातशून्य निःस्वार्थ जाँच है। उससे चिन्ताधारा अच्छे मार्ग में चालित होती है, और विशुद्ध भावों तथा नवीन धाराओं की सृष्टि होती है। नवीन धाराओं की सृष्टि से कविता के निमित्त नूतन विषयों का संचय होता है। कवि को मानव-जीवन तथा संसार-विषयक ज्ञान आवश्यक है। जो ज्ञान भविष्य के लिए आवश्यक है, वह अतीत-काल के ग्रन्थों की आलोचना से बहुत परिमाण में मिल जाता है।

आर्नल्ड ने इतना तो कहा है, किन्तु यह नहीं बताया कि साहित्य में सबसे उत्तम क्या है, और इस विषय का ज्ञान समालोचक को कैसे प्राप्त हो सकता है? इस प्रश्न के समाधान के लिए समालोचना की विभिन्न धाराओं की आलोचना आवश्यक है।

(१) अयौक्तिक प्रणाली—पूर्व-काल के समालोचकों के मतों को अकाट्य जानकर बिना विचार के उनका ग्रहण करना।

अरस्तू ही समालोचना के आदि गुरु हैं। उन्होंने अपने तथा पूर्ववर्ती काल के काव्यों तथा नाटकों की सूक्ष्म परीक्षा के द्वारा, काव्य की काया किस प्रकार गठित होती है, और उसके विभिन्न अंशों के संयोग से समग्र की एकता किस प्रकार उत्पन्न होती है, इस बात की उपलब्धि कर काव्य-निर्माण के कुछ सूत्र बनाये थे। इस कारण आदर्श का अनुकरण इतना बढ़ गया था कि कुछ निर्दिष्ट साँचों की कविताओं के अतिरिक्त अन्य प्रकार की कविताएँ ही नहीं बनती थीं। इसका परिणाम यह हुआ था कि कविगण नहीं जानते थे कि स्वाभाविकता और स्वतन्त्रता किसे कहते हैं। इस कारण अठारवीं सदी में इस दासत्व के विरुद्ध योरप के कलाशिल्पियों में एक विद्रोह उपस्थित हुआ था, और कलाओं में कल्पना का राज्य प्रतिष्ठित हुआ था। कल्पनात्मक कविताओं ने प्राचीन शैली की कविताओं को स्थान-च्युत किया था।

(२) कविता के विवेचन की एक दूसरी प्रणाली है, जिसे हृदयग्राही-प्रणाली कहते हैं। इसमें रुचि के अनुसार कविता की जाँच होती है। किसी कविता को पढ़कर यदि पाठक का भाव प्रीति वा अप्रीति का हो, तो उसी के कारण बिना विचारे वह कह देता है कि कविता भली है या बुरी। इस प्रणाली में पाठक को अपने मत के लिए कोई कारण नहीं दिखाना पड़ता। साधारण लोगों में इसी प्रणाली से कविता की जाँच होती है। अरस्तू इत्यादि के समालोचना-सूत्रों का अध्ययन कर, वे कविता के दोष-गुणों का विचार नहीं करते। किसी कविता को पढ़कर यदि उनको आनन्द मिलता हो तो वे उसे अच्छी कहते हैं; यदि नहीं मिलता तो अच्छी नहीं कहते।

आनन्द का मिलना न मिलना पाठक की रुचि पर निर्भर है। सब की रुचि एक सी नहीं होती। किसी फल को खाकर कोई कहता है कि वह अच्छा है, दूसरा कहता है कि अच्छा नहीं। इसमें रुचि की भिन्नता के लिए हम किसी को दोषी नहीं बना सकते। इसी प्रकार किसी कविता के अनुकूल वा प्रतिकूल मत व्यक्त करने के कारण हम पाठक की निन्दा नहीं कर सकते। क्या काव्य-विषयक रुचि का कोई मानदण्ड नहीं? प्रायः हमारे सुनने में आता है कि अमुक की रुचि उत्तम है, अमुक की रुचि मन्द है। इससे अनुमान होता है कि रुचिविषयक कोई न कोई आदर्श अवश्य है।

इन्द्रियों के द्वारा काव्य-विषयक रुचि निरूपित नहीं होती। इसे एक सहजात मानसिक वृत्ति कह सकते हैं, किन्तु यह अधिक निर्भर है, अभिज्ञता, संसर्ग और अभ्यास पर। इस कारण मनुष्यों में रुचि की अधिक समता नहीं रह सकती। किन्तु व्यक्तिगत धारणा के अतिरिक्त हमें एक निर्दिष्ट विधि का प्रयोजन है, जिसकी सहायता से हम अपने मंतव्यों के कारण दिखा सकें। रुचि के विवेचन में हैज़लिट ने बहुत अच्छे पथ-प्रदर्शक का काम किया है। "कवि-विषयक भाषण" नामक ग्रन्थ में उन्होंने अपनी सुरुचि का सुन्दर परिचय दिया है।

(३) काव्यालोचना की एक तीसरी प्रणाली है, जिसमें पहली दो प्रणालियों का मिश्रण है। इस प्रणाली में समालोचक कुछ निर्दोष और कुछ सदोष कविताएँ चुनकर हमारे सामने रखता है और कहता है कि जो कविताएँ प्रथम श्रेणी के सदृश हैं, वे अच्छी हैं और जो दूसरी के सदृश हैं, वे अच्छी नहीं। निर्वाचित कविताएँ क्यों भली वा बुरी हैं, वह इसका कोई

कारण नहीं दिखाता। हमें जब किसी कविता का विवेचन करना पड़ता है, तब इन्हीं आदर्शों का स्मरण कर, उनका विचार होता है।

मैथ्यु आर्नल्ड ने प्रायः इसी प्रणाली का अवलम्बन किया है। आलोच्य कविता का मूल भाव और कवि के मन में किस प्रकार से उस भाव का क्रमिक विकास हुआ था, इन बातों का पता लगाना और मौलिक भाव के क्रम-विकास का अपने मन में दुहराना ही समालोचक का काम है। इसी उपाय से समालोचक कविता के मर्मस्थल को पहुँच सकता है। नमूनों के साथ किसी कविता की तुलना से काव्यचर्चा में सहायता नहीं मिलती। लौंजाइनस नामक एक प्राचीन समालोचक की भी यही प्रणाली थी।

विश्वनाथ कविराज रचित "साहित्य-दर्पण" में इसी प्रणाली का अवलम्बन किया गया है, किन्तु उसमें उद्धृत कविताओं के दोष-गुणों का युक्ति के साथ विचार किया गया है।

(४) समालोचना की एक चौथी प्रणाली भी है, जिसमें एक ही विषय पर भिन्न-भिन्न कवियों की उक्तियाँ एकत्रित कर दिखाया जाता है कि किस सफलता से प्रत्येक ने उस विषय की परिकल्पना की है।

कविता के विवेचन के लिए ये प्रणालियाँ (यदि ठीक-ठीक अवलम्बित हों) शिक्षा-प्रद हो सकती हैं, किन्तु समालोचना की सत्ता तथा उद्देश्य के लिए ये यथेष्ट नहीं हैं। कविता में कौन-कौन बातें उत्कृष्ट वा निकृष्ट हैं इस पर लोगों की आँखें खोल देनी ही है। समालोचक का यथार्थ काम, जिससे वे स्वयं

इन बातों को समझ सकें और उनसे लाभ उठा सकें। किन्तु अन्यों के गुरु बनने के पहले स्वयं उसको उन बातों का ज्ञान होना आवश्यक है, जिनसे कविता क्या है और कैसी होनी चाहिए और उसका क्या उद्देश्य है, इनकी धारणा हो। समालोचक में ऐसी अन्तर्दृष्टि उत्पन्न होनी चाहिए, जिसके द्वारा वह कविता के उत्कर्ष तथा अपकर्ष पर बुद्धि-परिचायक निपुण सम्मतियाँ दे सके।

आधुनिक अँगरेज़ी समालोचना

उन्नीसवीं सदी के प्रथम पाद में ही समालोचनातत्त्व की नियमित आलोचना का आरम्भ हुआ था। उन्नीसवीं सदी तक इङ्गलैण्ड के कविगण प्राचीन शैली का अनुवर्तन करते थे, किन्तु अट्ठारहवीं सदी के अंतिम चरण के कुछ कवियों की चिन्ताधारा और रचनाशैली में भिन्नता आने लगी। उस समय के समालोचकों ने उनकी अच्छी ख़बर ली। उन्होंने अयौक्तिक समालोचना के द्वारा उन कवियों को जर्जरित कर दिया। समालोचकों का मत यह था कि कविता के जो-जो नियम और जो-जो रूप अब तक जारी थे और कविता में जैसे-जैसे विषय और जैसी-जैसी चिन्ताधारा ग्रहण योग्य समझी जाती थीं वे चिरकाल के लिए निर्दिष्ट हो गयी हैं। उनका व्यतिक्रम करना धृष्टता और निर्बुद्धिता का काम है। इस मत का प्रतिवाद होने लगा और प्रतिवाद-कारियों में कोलरिज प्रधान थे। उन्होंने कविता के विषय में एक मनस्तत्त्वमूलक अनुसन्धान का प्रस्ताव किया, और चाहा कि उस अनुसन्धान की भित्ति पर कुछ ऐसे सूत्र बनाये जायँ

जिनसे कविताओं की यथार्थ जाँच हो सके। उन्होंने स्वयं इस अनुसन्धान का आरम्भ कर दिया, किन्तु सम्पूर्ण न कर सके। वर्ड्सवर्थ और शेली ने अपने-अपने लेखों में इस मत का समर्थन किया। पीछे कार्लाइल और रास्किन भी इस मत के पोषक हुए। वाल्टर पेटर और ब्राड्ली भी इस मत के समर्थक थे। अन्त में एक नया मत गठित होकर जन साधारण में ग्राह्य हुआ।

विशुद्ध समालोचना की पहली आवश्यकता यह है कि समालोचक में कविता की प्रकृति तथा उद्देश्य की सम्यक धारणा हो। किन्तु कविता क्या है? कविता का लक्षण बनाना तो असम्भव है। वह तो पवन के समान स्वैरगति है। वह परिभाषा की सीमाओं में आबद्ध नहीं हो सकती। तथापि उसकी एक व्यापक धारणा तो अवश्य रहनी चाहिए। अब सब कोई स्वीकार करते हैं कि कविता किसी 'वस्तु' का प्रकाशन है और उसके उत्कर्ष का भार उसी 'वस्तु' पर है, अर्थात् जिस सफलता के साथ वह 'वस्तु' प्रकाशित होती है, उस पर। अतएव यह प्रश्न उठता है कि वह कौन सी 'वस्तु' है जिसको प्रकाशित करना काव्य का उद्देश्य है और जिसका प्रकाशन कविता है?

वर्ड्सवर्थ ने कविता की व्याख्या यों की है:—"कविता है प्रबल आवेगों का अयत्न-सम्भूत आप्लावन, जिसका स्मरण मन की शान्ति के समय होता है।" इस परिभाषा को मान लेने से देखा जाता है कि आवेग ही कविता की प्रेरणा-शक्ति है—जिसके प्रभाव से कवि कविता लिखने को उद्यत होता है। किन्तु आवेग को तो कोई स्वाधीन सत्ता नहीं। जब किसी

वर्तमान या अतीत भाव की अनुभूति होती है, तभी उसकी वास्तव सत्ता रहती है। किसी वस्तु के ज्ञान से भाव उत्पन्न होता है और दूसरे मनों में भी चालित हो सकता है। भाव के चालित होने का अर्थ यह है कि उस ज्ञान का चालित होना जिससे भाव का उदय होता है।

अतएव भाव का आधार है सत्य अर्थात् उन वस्तुओं का ज्ञान जो कवि की देखी और जानी हुई हैं। किन्तु कवि की दृष्टि-शक्ति साधारण लोगों की दृष्टि-शक्ति से भिन्न होती है। वह वस्तुओं के अन्तस्तल तक देखता है और शीघ्र उनका भीतरी भाव ग्रहण करता है। अतएव उसमें आवेग की तीक्ष्णता अधिक होती है और उसमें क्रोध, करुणा, आश्चर्य, आशा इत्यादि के भाव अधिक तीव्र होते हैं। समय-समय पर वह इन भावों से ऐसा उत्तेजित हो जाता है कि अपने मन में उन्हें आकार दिये बिना और अन्यों के मन में सञ्चारित तथा अङ्कित किये बिना उससे रहा नहीं जाता।

अतएव कविता निःश्वासमात्र नहीं—वास्तव जगत से सम्बन्ध-हीन खेल नहीं—केवल मानसिक व्यायाम नहीं। यथार्थ कविता का आधार पौराणिक कहानियाँ नहीं। यथार्थ कविता में प्रकृति तथा मानव जीवन के गम्भीर सत्यों की अभिव्यक्ति रहती है। जब तक मनुष्य अपनी परिस्थिति तथा भाग्य की चिन्ता और अनुभव करते रहेंगे, तब तक उनकी सबसे निबिड़ और सबसे सच्ची चिन्ताएँ और अनुभूतियाँ कविता के आकार में व्यक्त होती रहेंगी।

विज्ञान में भी ज्ञान तथा सत्यों की आलोचना तथा प्रकाश रहता है, पर मानव-जीवन की वेदनाओं से उसका सम्बन्ध

नहीं। कविता सब ज्ञान का सार और सीमा है। कविता में मानव-जीवन के सत्यों का प्रकाश है और सौन्दर्य की यथार्थ अनुभूति है। कहते हैं कि सौन्दर्य ही सत्य है और सत्य ही सौन्दर्य। इसमें सन्देह नहीं कि कविता सत्य का एक आकार है और वह वही आकार है जिसमें सौन्दर्य का निवास है।

यदि कविता और विज्ञान दोनों का ही काम है सत्य का ज्ञापन करना, तो दोनों में प्रभेद क्या है? उनमें अनेक प्रभेद हैं—उनमें सत्य के आकार भिन्न हैं, सत्य का संग्रह करने की रीतियाँ भिन्न हैं और उसको व्यक्त करने के ढंग भिन्न हैं। विज्ञान का सम्बन्ध है सब सत्यों से। उसमें ज्ञान के लिए ही ज्ञान का अन्वेषण है। वह निरपेक्ष और निर्विकार है। समस्त चराचर—मनुष्य, पशु, कीट, पतङ्ग, खनिज, ग्रह, नक्षत्र—सब कुछ उसके नियम के अधीन है। वह ममताशून्य और पक्षपातशून्य नियामक तथा विचारक है। उससे मनुष्य उपकृत होता है ठीक, किन्तु उस उपकार में उसके हृदय का परिचय नहीं मिलता। विज्ञान मन की क्षुधा की निवृत्ति करता है और कला हृदय की क्षुधा की। विज्ञान में भी यथेष्ट कल्पना है, किंतु रस का सम्पूर्ण अभाव है।

कविता सहृदया और अति ममतावती है। वह जीवों के सुख-दुःखों का अनुभव कर हँसती है, रोती है। जब क्रोध आता है, तब क्रोध दिखाती है। उत्पीड़ित होने पर उसकी धमनी में वेग से रक्त प्रवाहित होता है। अद्भुत वस्तुओं को देखने से विस्मय से उसका जी भर जाता है। घृणा-जनक वस्तु देखकर वह नाक सिकोड़ती है। स्नेहमयी जननी बनकर वह वात्सल्य की व्याकुलता प्रकट करती है; नर-नारियों के बीच जो परस्पर के

प्रति अदृश्य आकर्षण है, उसके माधुर्य से उत्फुल्ल होती है और विच्छेद-जनित तीव्र ज्वाला से दग्ध होती है; दुःख-दारिद्र्य से क्लेश अनुभव करती है। स्वदेश की दुर्दशा दूर करना चाहती है; आर्तों पर दया दिखाती है; भक्तों का प्रतिनिधि होकर भगवान् के पास आत्म-निवेदन करती है; प्रकृति के नाना सौंदर्यों को देखकर आनन्द से आप्लुत हो जाती है।

कविता बहुशः प्रकृति के वर्णन में नियत रहती है। इसका कारण यह है कि मनुष्य-जाति सर्वत्र प्रकृति से परिवेष्टित है और प्रकृति के अधीन है। मानव-जीवन को प्रकृति सर्वदा प्रभावित करती रहती है, और जीवन में वह प्रभाव प्रतिभासित होता है। प्रकृति परमात्मा का बाह्य रूप है। प्रकृति से ही मानव-जीवन की पहली सृष्टि हुई थी और मनुष्य की आधुनिक परिस्थिति उसी का विकास है। साथ-साथ मनुष्य की अनु-भूतियों का भी विकास होता गया है। अतएव आदि कारण परमात्मा को मनुष्य भूल नहीं सकता और अनादि काल से जिस माता की गोद में वह लालित होता आया है, उसे भी वह कैसे भूल सकता है? इसी कारण प्रकृति कविता का एक प्रधान विषय है।

जब प्रकृति का वर्णन मानव-जीवन से सम्बंध नहीं रखता, तब वह प्राकृतिक विज्ञान में परिणत होता है। जिन प्रणालियों से कविता और विज्ञान के ज्ञान प्राप्त होते हैं, उनमें भिन्नता है। विज्ञान का ज्ञान पर्यवेक्षण तथा परीक्षा के द्वारा पाया जाता है, किंतु काव्य का ज्ञान अन्तर्दृष्टि तथा सहजात अनुभव से मिलता है और कवि उसे उस रूप में प्रकाशित करता है, जिससे पाठक भी उसे देखने तथा अनुभव करने को

समर्थ होता है। कवि की दृष्टि देवदत्त है, जिस कारण वह अन्यों से अधिक देखता है। कोलरिज और शेली की उक्ति यह है कि प्रकृति की सृजन-शक्ति कवि के ससीम मन में प्रविष्ट होकर चिंता तथा कल्पना का रूप धारण करती है। अनंत विश्व सान्त कवि-रूप क्षुद्र विश्व में परिणत होता है।* परमात्मा की असीम ज्योति जीवात्मा के ससीम अन्तःकरण में समाहृत होती है। कवि को इस प्रभा की झलक कभी-कभी मिलती है, जिससे उसके मन में गम्भीर सत्यों की अनुभूति होती है।

विज्ञान अविच्छिन्नताओं (Abstractions) तथा सामान्यों (Generalisations) को ग्रथित करता है, किंतु कविता सामान्य का परिहार कर अविच्छिन्न भावों को वास्तव रूप देती है। कविता के समझने में कोई तर्क वा युक्ति आवश्यक नहीं होती। कविता भाव-चित्रों की समष्टि है। अतएव कल्पना ही उसका यन्त्र वा प्रधान उपकरण है। सत्यों का मानसिक चित्र अङ्कित करना ही कल्पना है—चाहे वह वर्णन में हो, चाहे उपमा में। गद्य में सब भावों का सम्पूर्ण प्रकाश रहता है, किंतु कविता में भाव संक्षेप के साथ व्यक्त होते हैं, जिससे उसके समझने के लिए पाठक के मन में चिंताधारा तथा भावधारा प्रवाहित करनी पड़ती है। कविता में जो कुछ व्यक्त रहता है, उससे उसके उत्कर्ष का उतना परिचय नहीं मिलता, जितना कि जो कुछ अव्यक्त रहता है उससे। व्यञ्जना वा ध्वनि ही कविता का प्रधान गुण है। कोई उच्च कोटि की कविता पढ़कर जितने मानसिक चित्र उत्पन्न होते हैं, उनमें से

* The creative power of nature makes the life of the macrocosma live over again in the microcosma of finite mind.

अल्पमात्र को ही कवि स्वयं चित्रित करता है। कवित्व-शक्ति दैवी-शक्ति कही जाती है, जिसकी सबसे रहस्य-जनक बात यह है कि बड़े-बड़े कवि जिन थोड़ी सी छवियों का निर्माण करते हैं, उनसे अन्यों के मन में चिंताओं का एक भारी सिलसिला बन जाता है और भावों का एक दीर्घ प्रवाह उत्पन्न होता है।

किंतु ऊपर के विश्लेषण में कविता को विशिष्टता के परिचय का अभाव रह गया है। कवि जिन भावों की प्रेरणा से चिंता तथा रचना में प्रवृत्त होता है, उन भावों की उत्पत्ति कैसे होती है? प्रकृति तथा जीव-जगत् में आगे बढ़ने की चेष्टा सदा देखी जाती है। यही प्रवृत्ति मनुष्य की बुद्धि-वृत्ति में प्रविष्ट होकर उसे निम्न सोपान से उच्च-सोपान की ओर ले जा रही है। यही प्रवृत्ति उसे वस्तुओं तथा घटनाओंकी भीतरी बातें जानने की प्रेरणा देती है। जो सब बातें विज्ञान की पहुँच के बाहर है, ऐसे अति-प्राकृत सत्यों के चिंतन के द्वारा संतोष लाभ करने की वासना मनुष्य में विद्यमान है। इसी वासना की प्रेरणा से कविता की उत्पत्ति होती है। यह अभिलाषा कभी शान्त नहीं होती और चिंताशील आत्मा एक उन्नत जगत में विचरण करने को उत्सुक रहती है। प्रगति तथा विकास कविता-रूपी उद्यम में लीन हो जाती है। वर्ड्स्वर्थ और शेली कहते हैं कि विचार-युक्त चिंता कविता में उन्नत होना चाहती है और मानव-मन में यह औत्सुक्य सर्वत्र और सर्वदा पाया जाता है। शेली का यह भी कहना है कि जब-जब किसी जाति में मानसिक तथा नैतिक-शक्ति प्रबल होती है, तब-तब उसमें कवि-शक्ति को प्रबलता अनुभूत होती है।

लोग पूछते हैं कि कविता का उद्देश्य क्या है? इसका

साधारण उत्तर यह है कि कविता का उद्देश्य आनंद देना है। पर इस उत्तर की कुछ गंभीरता नहीं। हाँ, एक प्रकार की कविता है, जिसका उद्देश्य संताप देना है—जिससे मानस-क्षेत्र में कुछ नवीनता, विविधत्व तथा सौंदर्य के चित्रों का उदय होता है और बिना आयास के मन को कुछ विनोद मिलता है। ये कविताएँ भावना-(Fancy-) मूलक हैं। इस प्रकार की कविताएँ मानसिक खेल-मात्र हैं—इनमें कुछ सार वस्तु नहीं है—इनमे किसी सत्य का उद्घाटन नहीं होता। ये कल्पना-(Imagination-) मूलक कविताओं से भिन्न हैं—जिनमें मानसिक चित्रों के द्वारा चिंता तथा भाव का प्रकाश होता है। शेषोक्त कविताएँ ही सर्वोच्च श्रेणी की गिनी जाती हैं। इनमें कवि के हृदय के निविड़ भाव और तीव्र आवेग रहते हैं, जिनको व्यक्त करने तथा अन्य मनों में सञ्चरित करने के निमित्त कवि व्याकुल होता है और जिनको पढ़कर पाठक अज्ञातपूर्व चिंता तथा भावों का आलोक प्राप्त करता है और अतीन्द्रिय आनंद का उपभोग करता है। ऐसी कविताओं से सौंदर्य की अनुभूति होती है। वस्तु में सौंदर्य नहीं रहता। यदि उससे निविड़ तथा अतीन्द्रिय आनंद मिलता हो, तो वह यथार्थ सुन्दर है।

अब देखना चाहिए कि कविता की रचना किस प्रकार से होती है। कवि किसी सत्य वा घटना का अनुभव वा स्मरण करता है। उस विषय से उसका मन ग्रस्त हो रहता है। उसी विषय पर उसकी समग्र चिंता नियत रहने के कारण कवि में तीव्र आवेग उद्दीप्त होता है—क्रोध का, वा अपमान का, वा दया का, वा शोक का, वा कृतज्ञता का, वा विस्मय का, वा भय का, वा आशा का, वा पश्चात्ताप का इत्यादि। वह तो

यथार्थ कवि है, अतएव अन्य मनुष्यों की अपेक्षा उसमें चिंता-शक्ति और भाव-प्रवणता अधिक है। चिंता करते-करते अपर नाना भावों के साथ मूल भाव सम्मिलित तथा बलयुक्त होकर एक ऐसा सम्पूर्ण भाव गठित हो जाता है, जो शब्दों के द्वारा व्यक्त होना चाहता है। तब वह आप से आप उपयुक्त भाषा में प्रकाशित हो जाता है और तभी उस भाव को स्थायी आकार मिलता है—भाव और उसका रूप एकीभूत हो जाते हैं। यही है उत्कृष्ट कविता का लक्षण। इससे मालूम होता है कि यथार्थ कविता चेष्टा के द्वारा बनाई नहीं जाती। वह मन के भीतर एक अंकुर से बढ़कर अशरीरी रूप-ग्रहण करती है। कविता एक दैवानुभूति है—इच्छा-शक्ति का निर्माण नहीं।

अब तक कविता कैसी वस्तु है—इस बात की धारणा कराने की चेष्टा की गयी। अब कविता के विषय और रूप में क्या प्रभेद है यह जानना आवश्यक है। उच्च कोटि की कविता के रूप और विषय को पृथक् करना असम्भव है। विषय के सम्बंध में यह पूछा जा सकता है कि कवि किस चिंता को व्यक्त करना चाहता है? उसका उद्देश्य क्या है? वह चेष्टा सफल हुई है या नहीं? कविता के विषय की उपलब्धि के लिए समालोचक के मन में भावनात्मक और कल्पनात्मक कविताओं की भिन्नता की धारणा रहनी चाहिए। भावनात्मक कविताएँ अश्रद्धेय नहीं हो सकतीं। वे अपने ढंग से अपने उद्देश्य का साधन करती हैं। कवि का उद्देश्य क्षुद्र तथा सरल हो सकता है, जिसे कवि थोड़े ही वाक्यों से सफल कर सकता है, जैसे कबीर वा रहीम या बिहारी के दोहे। अथवा वह एक भारी विषय का अवलम्बन कर सकता है, जिसकी नाना शाखा-प्रशाखाएँ रह सकती हैं,

जिसको सम्पन्न करने के लिए एक बड़ा भारी काव्य लिखना पड़ता है, जैसे जायसी की पद्मावत, तुलसीदास की रामायण वा सूरदास का कृष्ण-लीलाओं का वर्णन। वर्ड्स्वर्थ के मन में डाफोडिलों के प्रतिरूप का दर्शन एक सामान्य विषय है, किंतु उससे उन्होंने सजीव प्रकृति और मानव-जीवन में समता का अनुभव किया था।

अब कविता के रूपों की आलोचना की जायगी। विषय नाना आकारों में प्रकाशित हो सकता है—महाकाव्य के आकार में, नाटक के आकार में, गीति-कविता के आकार में और भी कितने आकारों में। पर आकार होना चाहिए विषय का उपयोगी। प्रतिभावान कवि के सामने उपयोगी आकार अपने आप उपस्थित होता है, और उसी आकार में उसके भाव बिना बाधा के व्यक्त हो जाते हैं। कभी-कभी आकार के निर्वाचन में कवि भ्रम कर बैठता है। मिल्टन ने अपने 'पैराडाइस लॉस्ट' को नाटकरूप में लिखना आरम्भ किया था, किन्तु बहुत दूर तक अग्रसर होने के बाद उनको सूझा कि यह आकार उनके विषय के लिए उपयुक्त नहीं। तब उन्होंने उसे महाकाव्य के आकार में गठित किया। तुलसीदास ने अपनी रामायण को महाकाव्य के आकार में, सूरदास ने अपने कृष्ण-चरित को गीति-कविताओं के आकार में, और हरिश्चन्द्र ने अपने 'सत्यहरिश्चन्द्र' तथा 'चन्द्रावली' को नाटककार में बनाया है।

प्राचीन शैली की (Classical) कविताओं में आदर्शों तथा नियमों के अनुकरण की मात्रा अधिक बढ़ गयी थी। इस कारण वे कृत्रिम सी मालूम होने लगी थीं। किन्तु भाव-प्रधान (Romantic) शैली के कवियों ने कृत्रिमता तथा परमुखापेक्षिता

छोड़कर स्वाभाविकता तथा स्वच्छन्दता का अवलम्बन किया था। अब एक प्रश्न यह उठता है कि अन्य कवियों के भावों तथा मानसिक चित्रों को दुहराने की स्वाधीनता किसी कवि को है या नहीं ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यह अनुचित है। अवश्य वह दूसरों के व्यवहार किये हुए विषयों को ले सकता है, और अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें नवीन भावों तथा आकारों में गठित कर सकता है। कालिदास, शेक्सपीयर, जायसी, तुलसीदास, सूरदास, बिहारी आदि ने पुराने विषयों को नये साँचों में ढालकर अपनी-अपनी शक्ति का परिचय दिया था।

समालोचक को देखना चाहिए कि कविता के विभिन्न अंशों का परस्पर के तथा समग्र के साथ सामञ्जस्य है या नहीं और सोचना है कि कविता की भाषा पृथक् होनी चाहिए या साधारण बोलचाल की। इस विषय में अब वर्ड्स्वर्थ का मत कुछ परिवर्तित होकर चलने लगा है। वर्ड्स्वर्थ का मत था कि कविता की भाषा बोल-चाल की भाषा होनी चाहिए, किन्तु सौभाग्य का विषय यह है कि उन्होंने अपनी रचनाओं के अधिकांश स्थलों में इस नियम का व्यतिक्रम किया है। यद्यपि साधारण नर-नारियों के चिरन्तन भावों को लेकर ही कविताएँ बनती हैं, तथापि उन भावों को व्यक्त करने के लिए यह आवश्यक नहीं कि कवि, ग्रामोफोन के सदृश, साधारण की भाषा की पुनरावृत्ति करे। उसे अपनी भाषा में उन भावों को व्यक्त करना उचित है। भाषा भावानुरूप होनी चाहिए।

अनुप्रास, यमक, अतिशयोक्ति, शब्दों का आडम्बर आदि कृत्रिमतापूर्ण भाषा का व्यवहार यथासम्भव घटने लगा है।

समालोचक को भाषा की विभिन्न शैलियों का यथेष्ट ज्ञान रहना चाहिए। उपमा का वर्जन कभी नहीं हो सकता। उपमा ही भावचित्रों की आत्मा है। किन्तु चेष्टा के द्वारा उपमा का आयोजन नहीं करना चाहिए। अच्छे कवियों की रचनाओं में उपमा अयत्नसम्भूत है।

एतद्‌तिरिक्त समालोचक का नाना रसों और उनके आनुषङ्गिक स्थायी आदि भावों से सम्यक् परिचय रहना चाहिए, जिससे किसी कविता की परीक्षा के समय वह समझ सके कि रस ठीक-ठीक व्यक्त हुआ या रसाभास उत्पन्न हुआ है।

समालोचक को यह भी देखना है कि समग्र कविता में उद्देश्य की सफलता है या नहीं? आलोच्य कविता ने जाति की उन्नति तथा ज्ञान के विकास में सहायता की है या नहीं? अथवा वह मनुष्य-जीवन के रहस्यों पर प्रकाश डाल सकी है या नहीं? कविता ने जिस चिन्ता को प्रकाशित किया है, उसमें कुछ नवीनता है या नहीं? उसके वर्णन में वस्तुएँ ऐसे-ऐसे ढंग में व्यक्त हुए हैं या नहीं, जिनमें और किसी कवि ने उन्हें प्रकाशित नहीं किया?

उपसंहार

साहित्य शब्द अब व्यापक अर्थ में व्यवहृत होने लगा है। किन्तु पहले इस शब्द का व्यवहार केवल काव्य के ही अर्थ में होता था। तीन प्रकार के काव्य पाये जाते थे—पद्यमय, गद्यमय और गद्य-पद्यमय अर्थात् छन्दोमय काव्य, गद्य-काव्य और नाटक। अब कथा-साहित्य (उपन्यास और कहानी) ने गद्य-काव्य का

स्थान अधिकार में किया है। जो सब उक्तियाँ पीछे के लेखों में कविता के सम्बन्ध में की गई हैं, वे छन्दों को छोड़कर, प्रायशः कथा-साहित्य तथा नाटक पर भी प्रयोज्य हैं।

काव्य का उद्देश्य है सहृदय पाठक वा श्रोता के मन में आनन्द-दान करना। सत्य पर आनन्द प्रतिष्ठित है। किन्तु सत्य क्या है? जन्म, मृत्यु, मिलन, विच्छेद चिरदिन ही मानव के सहचर हैं। यद्यपि ये घटनाएँ संसार में बार-बार संघटित होती गयी हैं, तथापि जब ये पुनरपि संघटित होते देखी जाती हैं, तब इनकी उपेक्षा नहीं हो सकती। सुख, दुःख, आनन्द, विस्मय, शोक, शान्ति आदि भाव-निचय सदा ही मानव-हृदय में उच्छ्वसित होते रहते हैं। इनकी सत्यता के सम्बन्ध में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। मनुष्य के हृदयाकाश में चिर-संचरणशील इन सत्यों की अनुभूतियों को अपनाकर कल्पना, भाषा, छन्द, ध्वनि इत्यादि के द्वारा पाठकों के लिए—दूसरों के लिए—विश्वमानवों के लिए—सदा के निमित्त नवीन रूप में कवि उनकी सजीव मूर्ति का सृजन करता है। यही है उसकी कविता की सार्थकता। इसी प्रकार से व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, बाणभट्ट, शेक्सपीयर, इत्यादि कविगण धरातल पर अमर कीर्तियाँ रख गये हैं। रामचरित के श्रवण से पाषाण भी द्रवीभूत होता है, द्रौपदी की लाञ्छना के विवरण से अब भी हमारा हृदय तरङ्गित हो उठता है। इन्दुमती के स्वयम्वर से हम आनन्दित होते हैं, अज के विलाप से अश्रुपात करते हैं। हम महाश्वेता के दुःख से दुखी होते हैं, कादम्बरी के सुख से सुखी होते हैं। हैमलेट की स्वगत उक्तियों से हमारा

हृदय स्पन्दित होता है। साहित्य* ने इन नायक नायिकाओं के साथ हमारा निकट सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। इस भावात्मक सम्बन्ध से समस्त जगत् आबद्ध है। कवि की अनुभूतियों में, भाषा में तथा छन्दों में वह अनाद्यन्त भाव—वह चिरन्तन सत्य—सदा के लिए आबद्ध है।

अन्त में निवेदन यह है कि यदि समालोचक अनन्याधीन स्वेच्छाचारी नियन्ता बनना चाहे तो यह उसके लिए अनुचित है। इसमें संदेह नहीं कि साहित्य-जगत् में उसका स्थान बहुत ऊँचा है। किंतु उत्कृष्ट समालोचक बनने के लिए उच्च कोटि की स्वाभाविक शक्ति की आवश्यकता है। तथापि वह समालोच्यमान कविता के मूल सृष्टि के समान मर्यादा का अधिकारी नहीं समझा जाता। अच्छा समालोचक को मूल सृष्टि की पुनःसृष्टि करनी पड़ती है। कवि ने जहाँ से आरम्भ किया था, उसे भी वहीं से आरम्भ करना पड़ता है, और जिन अनुभूतियों तथा स्मृतिओं के उदय से कविता निर्मित हुई थी उनकी और जिन शक्तियों ने कवि के मन में कार्य करके समग्र को गठित किया था, उनकी यथार्थ धारणा बना लेने की आवश्यकता रहती है।

---

* 'सहित' शब्द के साथ 'यण्' प्रत्यय के संयोग से 'साहित्य' शब्द उत्पन्न होता है दूर के साथ निकट का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूसरों के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करना ही साहित्य का काम है।

कवि-परिचय

मनुष्यों में भाव-विनिमय होता है वाक्यों के द्वारा, दैहिक इङ्गितों के द्वारा, मुख-भङ्गी के द्वारा तथा नयनों के रूप और रङ्ग के द्वारा। इनके द्वारा हम हृदय का भाव तथा अन्तर का आशय ग्रहण करने को समर्थ होते हैं।

मनुष्य के अतिरिक्त हमें पशु-पक्षियों के हर्ष-विषाद का भी कुछ परिचय मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति, प्राणी या वस्तु में कोई न-कोई विशेष ढंग रहता है, जिसके कारण उसका एक छाया मन-मुकुर में प्रतीत होती है।

साधारण लोगों की स्थूल दृष्टि कदाचित् विश्व के नाना भावों को ग्रहण नहीं कर सकती हो, और इस हेतु आकाश, वायु, जल, स्थल, वनस्पति, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग इत्यादि से भरे हुए विश्व-चराचर में सब मनुष्य सौन्दर्य का आस्वादन नहीं कर सकते हों, और सहज में सब के साथ संयोग स्थापित करने को समर्थ नहीं होते हों। किन्तु एक श्रेणी के मनुष्य हैं, जो वृक्षों के प्रशान्त अवयव में, पत्रों की मर्मर-ध्वनि में, वायु-कम्पित वनों में, परिवर्तन-शील नभ-मण्डल में, वायु-प्रवाह की सनसनी में, तारका-राजी की दीप्ति में, मेघों के गम्भीर गर्जन में, जलधि के अविराम नर्तनों में, वेला भूमि के असंख्य बालू-कणों में सजीवता का अनुभव और प्रकृति के रहस्यों की उपलब्धि करते हैं। इन भाग्यवान् पुरुषों का नाम है कवि। कवि में कल्पना-शक्ति प्रबल रहने के कारण वह अपनी अनुभूतियों को प्रकृति की सब वस्तुओं में आरोपित करता हुआ पशु-पक्षियों की बोलियों को समझता है, लता-पादपों के अन्तर की वेदनाओं

का अनुभव करता है एक-एक क्षुद्र बालू-कण में असीम विश्व की उपलब्धि करता है, मेघ या हंस को दूत बना कर नायक की प्रियतमा के पास सन्देश भेजता है, खिले हुए फूलों को हँसते पाता है, लता को सहकार से ब्याहता है।

मनुष्यों को मनुष्य समझना है उनके आकार, इङ्गित, भाषा, स्वर, संगीत, चित्र इत्यादि के द्वारा जो भाव व्यक्त होते हैं, उनकी सहायता से। इतर प्राणीगण और प्राकृतिक वस्तु-समूह मूक हैं—इतर प्राणियों में है केवल अपरिचित कण्ठ-स्वर और जड़ वस्तुओं में है नीरव व्यञ्जना। आकाश, वायु, ग्रह, नक्षत्र इत्यादि में कवि स्वयम् भावों की सृष्टि करके उनकी मानसी प्रतिमा बनाते हुए उन्हें प्राणवन्त कर उनके साथ भावों का आदान-प्रदान करता है। अतएव कवि के जगत् में कोई प्राणहीन वस्तु नहीं है।

कवि केवल रूप या रस का स्रष्टा नहीं, वह जड़ तथा मृतक को प्राणदान करके उनका सम्वाद विश्ववासियों को पहुँचाता है।

कवि के कल्प-लोक में मिथ्या नामक कोई वस्तु नहीं है। कवि मृत्यु को स्वीकार नहीं करता। देह को छोड़कर यदि कवि का विचार किया जाय, तो हृदय के नाते वह अटूट, अम्लान, चिर-सुन्दर, दीप्तिमय, वेगवान तथा अक्लान्त है। जभी कवि का हृदय विश्व-प्रेम में उन्मत्त हुआ है, तभी उसके हृदय की अनुभूतियाँ असीम के भीतर अपने आपको खो दिया है और उसमें लीन हो गया है।

कवि का स्थान है अन्तर-जगत् में। हृदय तथा मन को लेकर उसका कारबार है—देह से उसका सम्बन्ध नहीं।

काव्य में ही कवि के हृदय तथा रूप व्यक्त होते हैं। उसी में कवि की अन्तर-दीप्ति तथा अनुभूति का पता मिलता है। उसके जीवन के स्थूल कर्मों से उसका परिचय नहीं मिलता। कर्म तो जीवन की सीमा के भीतर आबद्ध है। कर्म की तुलना उसके अन्तर के ऐश्वर्य के साथ नहीं हो सकती, जो सीमा को अतिक्रम कर चिरनूतन रहता है।

साधारणतः कवि शब्द से हम किसी व्यक्ति-विशेष को समझते हैं; किन्तु यह हमारा भ्रम है। कवि है व्यक्ति-विशेष के अन्तर-अमरावती के सौन्दर्य-रस का तड़ाग, कल्पना का निर्झर। देह के भीतर वह देहातीत है—सीमा के भीतर वह असीम है—सरूप के भीतर वह अरूप है। अति नगण्य शुक्ति के भीतर की अमूल्य मुक्ता के माधुर्य की नाईं जीवन के अन्तराल में कवि-प्रतिभा विराजती है: अतएव कवि को ठीक पहचानने के लिए उसके बाहरी जीवन की आलोचना से अधिक लाभ नहीं होता।

मनुष्य के अन्तर में रहनेवाला यह कवि-पुरुष जो विश्व के समग्र सौन्दर्य, रस तथा माधुर्य के भीतर रह कर उनसे अपना संयोग स्थापित करता है, वहाँ वह क्षुद्र नहीं—सामान्य नहीं। समुद्र में गिरनेवाली क्षुद्र स्रोतस्विनी का जल जैसे समुद्र के ज्वर-भाटा के कारण घटता-बढ़ता है, और नित्य-प्रवाह में समुद्र के साथ उसके प्राण-रस का आदान-प्रदान होता रहता है, उसी प्रकार मानव-जीवन के अन्तराल में जो कवि-पुरुष रहता है, उसके साथ विश्व-कवि (परमात्मा) का अविराम संयोग और सृजनानन्दरस का आदान-प्रदान होता रहता है।

क्या यह कवि-पुरुष प्रत्येक मनुष्य के अनुभूति-क्षेत्र में पाया

जाता है ? हाँ पाया जा सकता है ; किंतु सर्वत्र उसका प्रकाश नहीं है ; अतएव कहा जा सकता है, कि जब वह प्रकाशित नहीं है, तब उसका रहना-न-रहना बराबर है ; किंतु जैसे सब शुक्तियों में मुक्ता नहीं रहता, किंतु मुक्ता शुक्ति के भीतर ही उत्पन्न होता है ; इस कारण अनुमान किया जा सकता है, कि जिन शुक्तियों में मुक्ता नहीं पाया जाता, उनमें मुक्ता उत्पन्न होने की सम्भावना थी ; पर किसी अज्ञात प्रतिकूल कारणवश उत्पत्ति का निरोध हो गया है, उसी प्रकार तथा-कथित अकवि लोगों का अन्तर विश्व-कवि के संयोग से सम्पूर्ण वञ्चित प्रतीयमान होने पर भी अनुमान किया जा सकता है, कि अनुकूल अवस्था में उनमें कवित्व-शक्ति का स्फुरण असम्भव न था। गङ्गा में यमुना गिरती है, समुद्र में नहीं, तो क्या कहना होगा, कि समुद्र के साथ उसका संयोग नहीं है ? अनुकूल अवस्था में छोटी नदियों में भी बाढ़ आ सकती है। साधारण मनुष्य भी समय-समय पर विश्व-कवि के सौंदर्य का अनुभव करते हुए, लोक-चक्षु के गोचर वा अगोचर, अपनी शक्ति के अनुसार एक-एक कल्प-राज्य की सृष्टि कर सकते हैं।

छोटी गल्प का स्वरूप

गत २६ फ़रवरी को हिंदी कहानियों का एक संग्रह उपहार स्वरूप मुझे मिला था। पुस्तक का नाम है "आधुनिक हिंदी कहानियाँ।" संकलन-कर्त्ता तथा भूमिका लेखक हैं, प्रो० रामकृष्ण शुक्ल एम० ए० 'शिलीमुख'। शारीरिक अस्वस्थता तथा पारिवारिक दुर्घटनाओं के कारण मैं उस पुस्तक पर अब तक ध्यान नहीं दे सका था।

उस पुस्तक में भिन्न भिन्न लेखकों की ११ कहानियों का संग्रह है। चुनाव का काम विचार के साथ किया गया है। प्रायः सब कहानियाँ उच्च कोटि की हैं। किन्तु पुस्तक की श्रेष्ठता उसके अंतर्गत कहानियों के लिए उतनी नहीं जितनी उसकी गवेषणापूर्ण तथा सुचिन्तित भूमिका के लिए। कथा-साहित्य के विषय पर, विशेष कर छोटी गल्पों के संबंध में, जितना प्रकाश डाला जा सकता है, भूमिका लेखक ने उतना प्रकाश डालने की चेष्टा की है। इस विषय पर दो और बातें कहने के लिए मैंने यह लेख लिखने की धृष्टता की है। इस लेख में बहुत स्थानों पर प्रोफेसर साहब की ही प्रतिध्वनि है, जिसके लिए मैं उनका ऋणी हूँ।

कथा-साहित्य के अंतर्गत कई प्रकार की रचनाएँ हैं। इस श्रेणी की कुछ रचनाओं का नाम उपकथा, कुछ का नाम गल्प, कहानी वा किस्सा, कुछ का नाम उपाख्यान, आख्यायिका वा दास्तान तथा कुछ का नाम उपन्यास वा रमन्यास है। बच्चे दादी या नानी के पास राजा-रानी, सियार, चिड़ियों इत्यादि की जो कथाएँ सुनते हैं वे उपकथाएँ हैं। हितोपदेश, पंचतन्त्र वा ईसप की कहानियाँ अलीक होने पर भी उपदेश-मूलक हैं। 'जातक' की कहानियाँ कुछ अद्भुत सी हैं और उद्देश्य-मूलक प्रतीत होती हैं। कुछ कथाएँ विवरणात्मक जीवन-चरित्र के सदृश प्रतीत होती हैं, जैसे नल-दमयंती का उपाख्यान, सावित्री-सत्यवान की कथा, एवं रामायण और महाभारत तथा पुराणों के अंतर्गत आई हुई बहुत सी कथाएँ। इनमें उपदेश के अतिरिक्त मानव जीवन की नाना वेदनाओं का भी उल्लेख है। हातिमताई, चहार दरवेश, फिसाने अजायब, आराइश-मुहफिल, अलिफलैला, कथा-सरित्सागर,

दश-कुमार-चरित, यह आख्यानों वा दास्तानों में गिने जा सकते हैं। उपन्यास तथा रमन्यास प्रबंध-कल्पनाएँ हैं। कुछ तो वास्तविक वा ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर निर्मित होते हैं और कुछ निरी कल्पना-मूलक ही हैं। स्कॉट के उपन्यास इतिहास-मूलक और थैकरे, डिकंस तथा जेन आस्टेन के उपन्यास सामाजिक हैं। जूलेवर्न की कहानियाँ विज्ञान-मूलक हैं। लॉ मिजरेबिल में ऐतिहासिक घटनाओं के साथ शासन-प्रणाली तथा समाज के उत्पीड़न का उज्ज्वल, उच्च एवं विचारपूर्ण चित्र अंकित किया गया है। कादम्बरी कल्पना-मूलक उपन्यास है। बंकिम चन्द्र के उपन्यासों में से कुछ ऐतिहासिक आधार पर लिखे गए हैं, कुछ कल्पना-मूलक सामाजिक चित्र हैं और कुछ में स्वदेश-प्रेम की झलक दिखाई देती है। रमेशचन्द्रदत्त की रचनाएँ प्रायः ऐतिहासिक हैं। रवीन्द्रनाथ के उपन्यास कल्पना-मूलक हैं, पर उनमें सामाजिक तथा धार्मिक दोषों पर यथेष्ट कशाघात किये गए हैं। शरच्चन्द्र और प्रेमचन्द्र के उपन्यास काल्पनिक हैं।

मन की तीन अवस्थाएँ हैं—ज्ञान की अवस्था, भाव की अवस्था और संकल्प की अवस्था। इन अवस्थाओं की पृथक् पृथक् उपलब्धि कठिन है, तीनों की क्रियाएँ एक साथ होती हैं। ज्ञान में दो प्रकार के उपादान रहते हैं—भीतरी और बाहरी। जो बाहरी उपादान इन्द्रियों की राह से मन में प्रवेश करते हैं, वे ज्ञान नहीं हैं। ज्ञान तभी उत्पन्न होता है जब मन की कुछ भीतरी वृत्तियाँ उन बाहरी उपादानों पर क्रिया कर उनको एक विशेष रूप देती हैं। इन मानसिक क्रियाओं को चिन्ता वा विचार कहते हैं। चिन्ता वा विचार की क्रियाओं के अनन्तर ज्ञान की उत्पत्ति होती है। चिन्ता वा विचार में इन्द्रिय-लब्ध उपादानों

की पुराने उपादानों के साथ तुलना होती है और उनके कार्य-कारण संबंध का भी निर्णय होता है। मन में कुछ इन्द्रिय-निरपेक्ष क्रियायें भी होती हैं, जिनसे भावों का उदय होता है। भाव और ज्ञान पृथक् हैं। प्रत्यक्ष-ज्ञान और भाव का साधारण नाम है अनुभूति। अनुभूतियों को बाहर से भी उद्दीपन मिलता है और मन के भीतर से भी। चिन्ता या विचार, ज्ञान की क्रिया हैं और कल्पना भाव की। तीव्र होने पर भाव आवेग अथवा राग कहलाता है। अतएव चिन्ता और कल्पना में भिन्नता है। चिंता में हम वास्तव को अवास्तव से—सत्य को मिथ्या से—पृथक् करते हैं। किन्तु कल्पना में इस प्रकार की भिन्नता नहीं रहती। अनुमान होता है कि मनुष्यों में कल्पना-शक्ति की उत्पत्ति उस आदि काल में हुई, जब सत्य से मिथ्या पृथक् नहीं किया जाता था। अतएव कल्पना-शक्ति का उद्भव चिन्ता-शक्ति का पूर्ववर्त्ती है। देखा जाता है कि साधारण मनुष्य जिन बातों को नहीं समझते, वे उनके कारणों की कल्पना कर लेते हैं। अतएव अज्ञानता ही कल्पना का मूल है। ऋग्वेद के ऋषिगण प्राकृतिक दृश्यों तथा शक्तियों को देखकर विस्मित तथा चमत्कृत हो गए थे। उन्होंने उनके कारणों तक पहुँचने की चेष्टा नहीं की। अपनी प्रबल कल्पना के द्वारा उन्होंने प्रत्येक प्राकृतिक शक्ति के भीतर एक एक देवता की सत्ता का अनुभव किया और उनके विषय में कथाओं की सृष्टि कर डाली। उन्हीं वैदिक कथाओं के आधार पर पुराणों की बहुत सी विचित्र कथाएँ गठित हुईं।

कविता और कथा कल्पना-मूलक हैं। वे वास्तविक-घटनाओं की द्योतक नहीं होतीं। वास्तविक घटनाओं का ठीक-ठीक विवरण तो इतिहास में रहता है। काव्य और कथा में वास्तविक

अनुभूतियाँ अथवा घटनाएँ कवि और कथा-रचयिता की कल्पना के अनुसार परिवर्तित होकर एक नवीन रूप धारण कर लेती हैं। इस नूतन निर्माण में सौन्दर्य तथा चमत्कार उत्पन्न करना ही उनका उद्देश्य है। वे उसमें ऐसा आवेग भर देना चाहते हैं जिससे पाठकों की हृदय-तंत्रियाँ झंकृत हो उठें।

किसी कथा के लिए बाहरी जगत से किन किन चीज़ों की आवश्यकता है? कुछ मनुष्य और एक अथवा भिन्न-भिन्न परिस्थितिओं में उनकी कार्यावली। रचयिता अपने अनुभव से ऐसे पात्रों तथा घटनाओं का चुनाव करता है जो उसके चित्र के लिए पूर्ण रूप से उपयोगी हों। उसका प्रधान उद्देश्य है, कल्पित चित्र के द्वारा किसी आवेग वा संवेदना को परिस्फुट करना। एक प्रमुख संवेदना के साथ कुछ गौण संवेदनाओं का भी समावेश हो सकता है। संवेदनाओं को सम्पूर्णतया व्यक्त करने के लिए लेखक कल्पना के प्रयोग से पात्रों के चरित्र और घटनाओं के क्रम को परिवर्तित कर लेता है, और उनको ऐसी परिस्थितियों में डालता है, जिनके कारण कथा मनोरंजन की वस्तु हो जाती है। घटनाओं की सुव्यवस्थित समग्रता को अंग्रेजी में प्लॉट कहते हैं। अतएव कथा के उपादान हैं संवेदना, पात्र, प्लॉट और परिस्थिति। पात्र, प्लॉट तथा परिस्थिति के निपुण विन्यास से संवेदना परिस्फुट होती है और, सहृदय पाठक का हृदय प्रभावित होकर आनन्द से परिप्लावित होता है। मन के जिस देश से भावों का उदय होता है, उसे हृदय कहते हैं।

प्रमुख संवेदना के स्पष्टीकरण के लिए प्लॉट अनेक प्रकार की घटनाओं, परिस्थितिओं तथा छोटी छोटी संवेदनाओं से

परिवर्तित होते हुए स्वाभाविक क्रम से धीरे-धीरे अग्रसर होता है। किन्तु उसमें कथा की सजीवता और घटनाओं की क्षिप्रता का अनुभव होना चाहिए। उत्तररामचरित की घटनायें किस वेग से बढ़ती गयी हैं कि देखकर हम विस्मित हो जाते हैं।

कथा की रचना में समग्रता पर दृष्टि रहनी चाहिए। किसी एक उपादान—संवेदना, प्लॉट, परिस्थिति या पात्र—पर अधिक ध्यान देने से सामञ्जस्य के अभाव के कारण समग्र का प्रभाव नष्ट हो जाता है। समस्त उपादानों का विकास इस प्रकार से होना चाहिए कि सबकी पुष्टि हो। सामञ्जस्य के ही अभाव के कारण कोई कथा घटना-प्रधान हो जाती है, कोई चरित-प्रधान, कोई वर्णन-प्रधान और कोई भाव-प्रधान।

कल्पना की विभिन्नता और संवेदना की तीव्रता के तारतम्य के कारण भिन्न भिन्न शिल्पियों की रचना के ढंग में भिन्नता आ जाती है। यही शिल्पी की विशिष्टता अथवा उसका व्यक्तित्व है। इसी के कारण ग्रंथकारों की रचना-शैलियों में भिन्नता अनुभूत होती है। कभी कभी किसी लेख को पढ़ते ही कहा जा सकता है कि यह रचना किसकी है। साहित्य में व्यक्तित्व का महत्व अत्यंत अधिक है। लेखों में कभी-कभी व्यक्तित्व की मात्रा अधिक पाई जाती है।

व्यक्तित्व के कारण ही कुछ कथा-लेखक अपनी-अपनी रचनाओं को इस प्रकार से विन्यस्त करते हैं कि उनके द्वारा लेखकों के सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, राजनैतिक आदर्शों में से कोई एक आदर्श भी प्रकट हो जाय। उदाहरणार्थ बङ्किमचन्द्र की देवी-चौधरानी और रवीन्द्रनाथ के गौरमोहन के नाम विचारार्थ उपस्थित किए जा सकते है। "वन्देमातरम्" वाक्य की उत्पत्ति इसी प्रकार

से हुई है। यदि आदर्श का समावेश मुख्य संवेदना के अनुकूल या उससे अभिन्न हो, तो हानि नहीं ; किन्तु यदि उसमें उपदेश की स्पष्ट झलक आवे, तो आदर्श का समावेश प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। कथा-साहित्य में युक्ति या विचार का स्थान कम है—कथा भाव-राज्य की अधिवासिनी है। उपदेश का जन्म-स्थान विचार-राज्य में है। ज्ञान और भाव की उत्पत्ति मन के भिन्न-भिन्न देशों में होती है। संवेदना विचार से दूर रहती है। किन्तु यदि उपदेश ही मुख्य संवेदना हो, तो बात दूसरी है।

ऊपर कथा-साहित्य के कुछ साधारण लक्षणों का उल्लेख किया गया है, जिनके भेदों से नाना प्रकार की कथाओं का उद्भव होता है। सब लेखकों का साधारण उद्देश्य सौन्दर्य-सृष्टि है। सबको उसमें समान सफलता नहीं मिलती। कल्पना की त्रुटि अथवा प्रकाशन-शक्ति की न्यूनता से कभी-कभी उद्देश्य विफल हो जाता है। कुरूपता असल में विकृत या नष्ट सौन्दर्य है, मानों सौन्दर्य किसी कारण से मलिन या कलुषित होकर प्रच्छन्न हो गया हो। भारतीय कवि तथा औपन्यासिक पहिले सौंदर्य को जिस दृष्टि-कोण से देखते थे, अब वे वहाँ से कुछ हट गए हैं। पहिले वे रसों की परिपुष्टि की चेष्टा करते थे और इसमें प्रतिभावान लेखक भली-भाँति सफल भी होते थे। जिनकी प्रतिभा कम होती थी, वे अधिक कृतकार्य नहीं होते थे। अब योरपीय मनीषियों के अनुकरण से 'संवेदना' का व्यवहार फैशन हो गया है और रस की परिपुष्टि के लिए संवेदना को जागरित करना ही अधिक आवश्यक समझा जाता है। पुरानी देशी कहानियाँ प्रायः संवेदना-शून्य पायी जाती हैं।

कुछ वेदनाएँ स्पष्टता से व्यक्त नहीं होतीं। उन्हें पाठक अपनी

कल्पनाओं से उपलब्ध कर लेता है। इसी प्रकार पाठकों को समय-समय पर अपनी कल्पना से गल्पों को पूर्ण कर लेना पड़ता है।

अब रही ध्वनि या व्यंजना। इसका महत्व काव्य में बड़ा भारी है। कथा-साहित्य में विशेष कर छोटी गल्पों में भी इसकी आवश्यकता कम नहीं है। श्रेष्ठ रचना की प्रकृति है वाच्य का अतिक्रमण कर जाना। आलङ्कारिकों ने वाच्यातिरिक्त धर्म को 'ध्वनि' कहा है। जहाँ काव्य के शब्द अपने प्रधान अर्थ को छोड़कर व्यञ्जित अर्थ को प्रकाशित करते हैं, वहाँ पंडितगण उसे ध्वनि* कहते हैं, परन्तु यह ध्वनि किसकी ध्वनि है? ध्वनि-वादियों का उत्तर है—'रस की ध्वनि।' अतएव रस ही काव्य की आत्मा है।

रस लौकिक वस्तु नहीं है। बाहरी उपादानों को अवलम्बन कर मन में जो क्रियायें उत्पन्न होती हैं, उनसे भावों का उदय होता है। ये भाव लौकिक भाव हैं। कवि जब अपनी प्रतिभा से केवल लौकिक भावों का अवलम्बन कर अलौकिक चित्रों की सृष्टि करता है, तभी उनसे सहृदय पाठक के मन में रस का अनुभव होता है। रस एक अलौकिक अनुभूति है।

कहने योग्य एक बात और है—काव्य नाटक, तथा कथा-साहित्य में जिस सौंदर्य की सृष्टि होती है, देखना चाहिए कि वह सर्वव्यापक और स्थायी है या नहीं। यथार्थ सौंदर्य स्थान-काल-

---

* यत्रार्थं शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतं स्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्य-विशेषः सध्वनिरीति सूरिभिः कथितः॥
—ध्वन्यालोक १॥ ६॥

निरपेक्ष और चिरस्थायी* है। इसीलिए शेक्सपियर के नाटक, गेटे का फाउस्ट, कालिदास की शकुन्तला और मेघदूत, वाल्मीकि वा तुलसीदास की रामायण का विनाश असम्भव है।

अब देखना चाहिए कि उपन्यास, कहानी अथवा छोटी गल्प में क्या भेद है। पहली बात तो यह है कि उपन्यास में विषय का विस्तार अधिक होता है। उसमें एक प्रधान वेदना के साथ-साथ छोटी-छोटी अन्य वेदनाएँ भी गर्भित की जा सकती हैं—जो विरोधी न होकर मुख्य वेदना की परिपुष्टि में सहायता दे सकें। उपन्यास में लेखक को घटनाओं तथा पात्रों की कार्यावली की अपनी ओर से व्याख्या देने की स्वाधीनता रहती है। इस स्वाधीनता के कारण उसको मुख्य संवेदना का विकास करने का यथेष्ट अवसर तथा सुयोग मिलता है, और वह चरित्रों का विश्लेषण तथा प्लॉट का विकास करता हुआ धीरे-धीरे अग्रसर हो सकता है। उपन्यास में पात्र, प्लॉट, परिस्थिति, छोटी-छोटी समवेदनाओं इत्यादि के समन्वय के उत्तरोत्तर विकास से एक अत्यंत सुंदर ठाट गठित होता है और मुख्य संवेदना अन्त में पाठक के मन में स्पष्ट हो जाती है।

छोटी गल्प में उच्चकोटि की कला दृष्टिगोचर होती है। उसकी रचना में विषय पर तथा विषय के गठन पर जितना अधिक मनः-संयोग आवश्यक होता है, उतना दूसरी किसी साहित्यिक रचना में नहीं। आभ्यन्तरिक सजीवता, शैली, विषय के महत्त्व, चरित्रों के गठन इन सब के साथ संपूर्ण सामञ्जस्य और एकता रखते हुए वह कल्पित निर्माण की ओर अग्रसर

---

* A thing of beauty is a joy for ever. —Keats.

होती है। चित्र केवल भूमि (Back ground) पर अंकित होता है, परन्तु भूमि की सुंदरता पर चित्र की शोभा बहुत अधिक निर्भर है। चित्र की सफलता के लिए कभी-कभी भूमि के रंग को बदलना पड़ता है। रंग कभी फीका बना लिया जाता है, कभी गहरा। चित्र-विद्या में जिसे भूमि कहते हैं, कथा-साहित्य में उसे परिस्थिति कहते हैं। परिस्थिति का महत्व सामान्य नहीं। शकुन्तला नाटक से तपोवन को उठा लीजिए तो वह रद्दी हो जायगा। उपन्यास-रचयिता सामञ्जस्य रखने के लिए अपने उपन्यास की भूमि तथा चरित्रों को प्रयोजनानुसार बदलता जाता है। उपन्यास लेखक वा पाठक के सामने आरम्भ से अंत तक का एक निर्दिष्ट चित्र नहीं रहता। किन्तु छोटी गल्प में ऐसा नहीं हो सकता। उसमें भूमि, चरित्र और गति का धीरे-धीरे विकास नहीं होता। उसमें समग्र कहानी, उसका सम्पूर्ण आलेख्य, समस्त कार्यक्रम, सब चरित्रों और घटनाओं का क्रमिक विकास इत्यादि लिपि-बद्ध होने के पहले से ही रचयिता के मानस-पट पर अंकित हो जाते हैं। छोटी गल्प एक संक्षिप्त चित्र वा नकशा मात्र है। नाटक और छोटी गल्प में भेद यह है कि छोटी गल्प नाटक के एक अंक के सदृश है। छोटी गल्प में आद्योपान्त एक पूरी कहानी नहीं भी हो सकती है। केवल एक वेदना सम्पूर्णतया व्यक्त करने से ही उसका काम पूरा हो जाता है। छोटी गल्प भी आजकल नाटक के समान साहित्य का एक प्रधान अंग मानी जाती है। अब साहित्य के इतिहास में उसकी उत्पत्ति तथा विकास की आलोचनाएँ होने लगी हैं।

भास्कर्य और चित्रकला की प्रयोग-पद्धति में जो भेद है, छोटी गल्प और उपन्यास में भी वही है। चित्राङ्कण के लिए

चित्रकार के सामने ढाँचे में बना एक पट रहता है, जिस पर स्याही के बर्तन से तूलिका के द्वारा रंग उठाकर वह प्रयोजनानुसार उसका प्रयोग करता है। उसके कल्पना-क्षेत्र में जैसा चित्र अंकित है वह उसी को पट पर उतारने की चेष्टा करता है। प्रयोग के समय यदि उसके कल्पित चित्र में सहसा पहिले से विरुद्ध कुछ सौंदर्य की अनुभूति हो जाय तो वह उस उन्नत सौंदर्य को व्यक्त करने के लिए स्याही के बरतन से रंग लेकर पहिले के लगाए हुए रंगों को प्रयोजनानुसार परिवर्तित कर देता है। किन्तु एक शिला खण्ड को तराश कर उससे मूर्ति निकालना दूसरी बात है। मर्मर-खण्ड पर हाथ लगाने के पहले ही शिल्पी के मन में मूर्ति का सम्पूर्ण और सुनिर्दिष्ट चित्र विद्यमान रहना चाहिए, जिसके अनुसार उसकी टाँकी चले। यदि जरा सा इधर-उधर हो गया तो बस, भ्रम को सुधारना असम्भव है। टाँकी और हथौड़ी के प्रत्येक आघात से या तो वह शिला-खण्ड के भीतर से अपनी कल्पित मूर्ति के सम्पूर्ण परिस्फुटन की ओर अग्रसर होता है, नहीं तो पत्थर को एक दम बेकाम कर देता है। चित्रण में जोड़ने का काम है और तक्षण में घटाने का। शिल्प के हिसाब से उपन्यास और छोटे गल्प में भी यही प्रभेद है। छील-तराश के द्वारा छोटी गल्प अनावश्यक अंशों का परित्याग कर एक विमल सारभूत पदार्थ में परिणत होती है। इसी में उसकी सजीवता, सबलता तथा सौंदर्य और आवेगों की चरम सीमा भी है। अनावश्यक अंशों से उसका कल्पनात्मक सौंदर्य नष्ट हो जाता है।

छोटी गल्प में उपन्यास का बीज अवश्य मिलेगा, किंतु अच्छे से अच्छे उपन्यास में छोटी गल्प के उपादानों का संग्रह

करना कठिन है। यूरुप में देखा गया है कि छोटी गल्पों के लेखक अधिक शारीरिक तथा मानसिक बलसम्पन्न होते हैं। कथा-साहित्य के लेखकों की सृजन-शक्ति जब तक प्रबल रहती है, तब तक वे छोटी गल्पें लिखते जाते हैं, इस ख्याल से कि अपनी शक्ति बराबर समान रहे। किंतु जब उनकी शक्ति का मध्याह्न बीत जाता है, तब वे उस शक्ति का मितव्यय करने की इच्छा से कहानी की रचना छोड़ देते हैं, क्योंकि यह काम, अधिक एकाग्रता के नियोग के कारण, देह मन को अवसन्न कर देता है। तब कहानी के स्थान पर वे उपन्यास रचना का सरल कार्य हाथ में लेते हैं।

आवेगों की संख्या अनंत है। किंतु मानव जीवन की प्रधान वेदनाओं की संख्या सीमाबद्ध है। छोटी छोटी असंख्य संवेदनाएँ इन्हीं मुख्य संवेदनाओं के भेद हैं। जितनी कहानियाँ लिखी जाती हैं, उनमें इन्हीं वेदनाओं में से किसी न किसी एक का अवलम्बन है। प्रभेद केवल देश, काल, पात्र, वस्तु-विन्यास, शैली, ढंग और लेखक के व्यक्तित्व का है। छोटी गल्पों की उपादानात्मक संवेदनाएँ तुलसीदास की रामायण और सूरदास की पदावली में यथेष्ट परिमाण में मिल सकती हैं—यथा मातृस्नेह, पितृस्नेह, भ्रातृस्नेह, पातिव्रत, मैत्री, दास्य (अर्थात् प्रभु-सेवक का सम्बन्ध) ईश्वर-भक्ति, सत्य-निष्ठा, प्रेम, स्त्री-पुरुष का परस्पर आकर्षण (वैध तथा अवैध), विरह, वियोग-जनित दुःख, सपत्नी-ईर्ष्या, प्रतारणा, उद्यम, प्रवास का क्लेश, कारावास का निग्रह, भ्रातृ-विद्रोह, दया, घृणा, प्रजा-वत्सलता इत्यादि। इन्हीं आवेगों को अवलम्बन कर लेखक अपने उपादानों को आधुनिक साँचे में ढाल सकता है।

छोटी गल्प की रचना में योरुप के बालज़ाक, अनातोल फ़्रान्स, मोपासां. तालस्टाय, तुर्गनेव, शेकौव, कानराद, शेरउड अराडार्सन, पो (अमेरिकन) इत्यादि बहुत प्रसिद्ध हैं।

हिंदी में छोटी गल्प लिखी जा रही हैं, किंतु उपर्युक्त कसौटी पर शायद एक आध ही ठहर सकें। हाँ, श्रीयुत चन्द्रधर शर्मा गुलेरी लिखित " उसने कहा था " शीर्षक गल्प में उच्च कोटि की कला पाई जाती है। श्रीयुत गिरजा कुमार घोष की ' चम्पी की बिबिया ', श्रीयुक्त ज्वालादत्त शर्मा के ' विवाह ' श्रीतेजरानी दीक्षित (अब पाठक) की ' विमाता ' में भी शिल्प की कमी नहीं है। श्रीयुत जयशंकर प्रसाद के ' आकाश दीप ' और श्रीयुक्त बिन्दु ब्रह्मचारी की ' चमेली की एक कली ' की कल्पानाएँ कुछ निराले ढंग की हैं। श्रीयुत हृदयेश के ' शान्ति-निकेतन ' में कल्पना की इतनी बौछार है कि जी चकरा जाता है। श्रीयुत सुदर्शन के ' अमर जीवन की संवेदना ' को वे ही पूर्णतया हृदयङ्गम कर सकते हैं जो साहित्य-जगत में प्रसिद्ध होते हुए भी पार्थिव सम्पदा से वञ्चित हो रहे हैं। श्रीबदरीनाथ भट्ट के ' टटोलूराम टलास्त्री ' की संवेदना ग्रंथकारों की नित्य की अनुभूति है। श्रीयुत प्रेमचन्द के ' आत्माराम ' में संवेदना की विशेषता नहीं है। श्रीयुत गोपालराम गहमरी की 'मालगोदाम में चोरी ' एक साधारण डिटेक्टिव (जासूसी) कहानी है।

काव्य में सत्य-शिव-सुंदर

साहित्य में, शिल्प में, धर्म में हम आये दिन सत्य, शिव, सुंदर इन तीन शब्दों का एकत्र उल्लेख पाते हैं, और उनका एक मनःकल्पित अर्थ भी बना लेते हैं। बहुतों का विश्वास है कि इन तीनों शब्दों का एकत्र समावेश उपनिषदों से प्राप्त है। ऐसा विश्वास कैसे उत्पन्न हुआ है, यह बताना कठिन है । संस्कृत-साहित्य में पाणिनि के पहले "सुन्दर" शब्द कहीं नहीं मिलता। इससे अनुमान होता है कि "सत्यं शिवं सुंदरम्" यह वाक्य बहुत प्राचीन नहीं। सम्भवतः उपनिषद् का "सच्चिदानंद" ही वर्तमान काल में 'सत्य शिव सुन्दर" में रूपांतरित हुआ है। जहाँ तक जाना गया है, महात्मा राममोहन राय ने ही पहलेपहल इन शब्दों को एकत्र ग्रथित किया था । पीछे ब्रह्मसमाज की मार्फ़त इस शब्दावली का प्रचलन हमारी भाषाओं में हुआ है। पाश्चात्य जगत् में प्लेटो ने सबसे पहले The truth, the good, the beautiful—इन शब्दों का एकत्र उपयोग किया था; बहुत संभव है, उपनिषद् के "सच्चिदानंद" के साथ "सत्य शिव सुन्दर" का भाव-सादृश्य देखकर महात्मा राममोहन ने पाश्चात्य-शिक्षा-प्राप्त संप्रदाय को लुभाने के लिए अपने प्रतिष्ठित समाज के मंत्र-स्वरूप इस नवीन वाक्य को ग्रहण किया हो।

जो कुछ हो, इस लेख का उद्देश्य 'सत्य शिव सुन्दर' की उत्पत्ति की आलोचना करनी नहीं है। काव्य में उसका स्थान कहाँ है, यही हमारा विचार्य है। स्मरण रखना होगा कि सत्य, शिव और सुन्दर पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं—वे एक ही वस्तु की भिन्न-भिन्न भावनाएँ हैं। जो कुछ नित्य तथा शाश्वत अर्थात्

चिरदिन विद्यमान है, वही सत्य है। आधुनिक प्रकृति-विज्ञान भी सत्य के इस अर्थ को स्वीकार करता है—जड़ पदार्थों का रूपांतर-मात्र होता है, विनाश नहीं। यदि जड़ पदार्थों का विनाश नहीं होता, तो अध्यात्म-सत्ता का चरम विनाश भी युक्ति-सिद्ध नहीं। हिंदू-शास्त्रों में अस्तित्व-हीनता व्यक्त करने के लिए 'नाश' या 'लोप' शब्द के सिवा कोई शब्द नहीं है। कारण, आर्य ऋषियों ने किसी पदार्थ का आत्यंतिक विनाश नहीं स्वीकार किया है—जो कुछ चक्षु से अगोचर है, उसका अस्तित्व नहीं है—यह हम कैसे कह सकते हैं।

विज्ञान की नाईं काव्य में भी हमें इस सत्य का ही दर्शन मिलता है। पर काव्य में उसे हम वस्तु के रूप में नहीं पाते—हम पाते हैं उसे भाव के रूप में। उसे हम परिच्छिन्न सामयिक प्रकाश के रूप में नहीं पाते—हम पाते हैं उसे स्थान-काल से परे एक अविनश्वर भाव-रूप में। वैज्ञानिक की सूक्ष्म परीक्षा तथा दार्शनिक की शुष्क जिज्ञासा द्वारा लब्ध सत्य से कवि के ध्यान-लब्ध सत्य का कुछ पार्थक्य है—कवि सत्य को देखता है सुन्दर के रूप में—उसके नग्न रूप से कवि का जी नहीं भरता। शुष्क ज्ञान का पथ कवि का नहीं। ज्ञान के द्वारा आत्मा की भेद-बुद्धि ही जागृत होती है—'नेति' 'नेति' करते-करते असल पर पहुँचना कठिन हो जाता है। इसी हेतु वेदान्त में द्वैताद्वैत के विचार के प्रसंग में विजातीय, स्वजातीय तथा स्वगत इन त्रिविध भेदों का उल्लेख हुआ है। किंतु प्रेम के जगत् में इनका मिलन पाते हैं—आपात-विभिन्न वस्तु-समूह को एक महातरु के शाखापत्र के रूप में।

सत्य तभी सुन्दर है, जब वह आनंददायी है। केवल भाव

या वस्तु हमें आनंद नहीं दे सकती। कारण, वस्तु-निरपेक्ष भाव हमारी कल्पना के अतीत है, और भाव-निरपेक्ष वस्तु प्राणहीन जड़ पिण्ड-मात्र है। प्रथम को लेकर व्यस्त है दार्शनिक, और द्वितीय की साधना में संनियत है विज्ञानवित्। किंतु कवि दोनों में से किसी का त्याग नहीं करता—वह भाव को देखता है वस्तु-रूप के भीतर से—वह सत्य को प्राप्त करता है उसे प्रतिमा के भीतर प्रतिष्ठित करके। कवि साकार का उपासक है भाव से रूप के पथ में; और रूप से भाव के पथ में उसका नित्य अभिसार है। सत्य जब रूप के भीतर गिरफ़ार होता है, भाव जब प्रतीक के भीतर से प्रकट होता है, तभी वह सुन्दर होता है। सुन्दर कहने से मूर्ति का ख़याल आता है—जिसका रूप नहीं है, वह कभी सुन्दर नहीं हो सकता। निखिल विश्व-प्रकृति एक महाभाव का प्रकाश है—तभी वह सुन्दर है।

तरुलता, नदीताल, समुद्रपर्वत, आकाशवायु इत्यादि से यह जो बाहर की प्रकृति सुशोभित है, यही तो महाभाव की विचित्र भाषा है—ये जो वस्तुपुञ्ज हैं, इनके पश्चात् एक महान् अर्थ, एक निगूढ़ सत्य है। इस भावमयी भाषा का, इस अनंत अर्थ के साकार प्रतीक का व्याख्याता है कवि अथवा शिल्पी। अदृश्य हस्त के इस चारु कारु का, अमेय मन की इस सुषीम भावना का अनुभव कर सकता है केवल कवि। भाव को प्रत्यक्ष करने की, सृष्टि के इस अनादि अक्षर के भाव-ग्रहण की, प्रतिभा है एकमात्र कवि की। कारण, जो बद्धदृष्टि मानव के सत्यदर्शन का अंतराय है, उस दुर्लंघ्य बाधा से कवि मुक्त है। स्वार्थ की यवनिका उसके सम्मुख नहीं है—संस्कार के धूलिकणों द्वारा उसके मन का

आकाश आच्छन्न नहीं रहता, अतएव वस्तुपुञ्ज का अंतर्निहित अर्थ उसके मन में सहज ही प्रतिबिंबित होता है।

दार्शनिक जिस सत्य को बुद्धि तथा विचार की सहायता से प्राप्त करता है, कवि अनाविल प्रेम की प्रेरणा से उसका अनुभव करता है। अपने मन में कुछ मूर्तियों (Images) की सृष्टि करके कवि भावों को रूपान्वित करता है। प्रेम का स्वभाव ही यह है कि वह भाव को मूर्तिमान करे, फिर रूप को भाव के आकाश में मुक्त कर दे। जब तक कोई भाव कवि के मन में रूप (सुविन्यस्त ललित भाषा) के द्वारा परिस्फुट नहीं होता, तब तक भाव बेचारा अकेला क्या कर सकता है। कवि अल्प से तुष्ट नहीं होता। यदि उसकी अनुभूतियाँ जीवन के गहन अंधकार में आलोकपात न करें, यदि अनुभूतियों की गति में तरंगें उत्पन्न कर हमारे हृदयों में संगीत के झङ्कार न लावें, तो उनकी सफलता कहाँ ? इस अवस्था में भावों के अनुगामी रूप की ही आवश्यकता है। एक समग्र भाव एकबारगी आकार ग्रहण कर कवि के अंतर में आविर्भूत होता है। कवि-हृदय में समुत्थित यह भाव मानों मंथन-सञ्जात शशांक के सदृश सुधालोक के द्वारा निखिल जगत् को प्लावित कर उदित होता है—यह मानों वायु को आकुल करते हुए पराग-संस्पर्शजनित परिमल के सदृश भासमान है। सृष्टि के अंतर में जो सब अनिर्वचनीय भाव प्रकृति के नव-नव वैचित्र्यों के रमणीय रूपों में विकसित होते हैं, कवि को उनकी उपलब्धि होती है।

सृष्टि के भीतर जो संपूर्णता की व्यञ्जना है, उसका अनुभव करने की शक्ति कवि में है; क्योंकि वह संस्कार-निर्मुक्त, उदार तथा अवारित है। किंतु व्यापकता ही कवि-दृष्टि का एकमात्र

लक्ष्य नहीं—वह जितना सुदूर-प्रसरणशील है, उतना ही अंतस्तल-भेदी है। रात्रि-कालीन आकाश कवि के कानों में कितनी ही बातें कह जाता है—कवि उसकी भाषा जानता है, मानों उसके साथ कवि का जन्म-जन्मान्तर का परिचय है। अंतर्दृष्टि की गंभीरता उसे विश्व-रहस्य के दूरतम नेपथ्य की ओर ले जाती है। ध्यान की तन्मयता उसे अकूल अतल के अतुल रत्नों का संधान देती है। इसी से वह खण्ड को अखण्ड के रूप में—एक महान् सत्ता के प्रकाश के रूप में देखता है। जगत् के भावगत तथा सौंदर्यगत ऐक्य का आविष्कार करना ही उसका काम है। वस्तुओं को अविच्छिन्न रूप में कल्पना करना संकीर्ण मन का परिचायक है—शब्द को गंध से, रूप को रस से पृथक् करके उनका अनुभव करना दृष्टि की अक्षमता है, और कुछ नहीं। ध्यानलोक में रूप, रस, शब्द, गंध, स्पर्श सब एकाकार हो जाते हैं—एक महाशक्ति के प्रकाश-रूप में कवि उनका अनुभव करता है। वह वैचित्र्य के भीतर ऐक्य का—अशांति के अंतर में महती शांति का उपभोग करता है। तापरश्मि से विच्छिन्न आलोक-रश्मि जैसे नाना शारीरिक व्याधियों को उपशमित करती है, उसी प्रकार अनन्त विक्षोभों से विच्छिन्न कवि-हृदय की शांति हमारी आत्मा को एक अननुभूतपूर्व अमृत के आस्वाद से परितृप्त करती है।

आँखों के द्वारा देखना और मन के द्वारा देखना ये दोनों ठीक-ठीक नहीं मिलते। जैसे जब जगत् में वर्ण, आलोक तथा उत्ताप की उत्पत्ति के कारण आणविक कम्पन को हम आँखों से नहीं देख सकते, किंतु गहन चिंता के द्वारा जान सकते हैं कि भीतर की बात क्या है, उसी प्रकार रूप-रस आदि जो हमारे

नेत्रपथ में वैचित्र्यमयी प्रकृति के रूप में प्रतिभात होते हैं, वे सत्य के ही नाना भाव हैं। कवि की सूक्ष्म दृष्टि विषय-समूह के अभ्यंतर में अवगाहन कर यकायक केंद्र को पहुँच जाती है। इसी हेतु उसके लिए आँख से देखना या आँख से सुनना एक ही बात है—कुछ विचित्र नहीं। इस विश्व-शतदल के मध्यदल में जो 'एक' अधिष्ठित है, छंद में, गान में, उपमा में कवि सर्वदा उसी की ओर इङ्गित करता रहता है। विश्व के विराट् छन्द में जहाँ तालभङ्ग तथा लयाभाव का अनुमान होता है, कवि की वीणा वहाँ नये-नये स्वरों का समावेश कर विश्व-संगीत को संपूर्णता देती है—असंपूर्ण विराट्-कल्पना जहाँ छिन्न-माल्य की नाईं अनुभूत होती है, कवि अपनी कल्पना के स्वर्ण-सूत्र के द्वारा भ्रष्ट, धूलि-लुण्ठित कुसुमों को ध्यान के हार में गूँथ देता है।

शिल्प तथा साहित्य में बहुत-से ऐसे हैं जो वास्तवता के पक्षपाती हैं। उनका मत है कि वस्तु जैसी पायी जाती है, उसको वैसी ही अंकित करना चाहिए। यही है शिल्पी का काम। वे कहते हैं कि साहित्य है समाज का दर्पण, और शिल्प है प्रकृति का अनुकरण। किंतु किसी वस्तु का ठीक-ठीक अनुकरण करना सम्भव नहीं। अतएव आवश्यकता के अनुसार शिल्पी को कुछ संयोग-वियोग करना ही पड़ता है। वास्तवता का जगत् है प्रयोजन का जगत्। उसके साथ हमारा सम्बन्ध है प्रधानतः शरीर का। किंतु मनुष्य साहित्य में वास्तवता के जगत् को अविकल रूप में नहीं देखना चाहता। प्रयोजन के बाहर जो अबाध आकाश है—कर्म के उस पार जिस आनन्द की लीला ने हमारे मन को उत्सव के वर्ण-राग से रंजित कर रक्खा है,

उस शाश्वत संगीत-ध्वनि को सुनने के लिए क्या हमारा मन कभी उत्कंठित नहीं होता ?

जीवन तो केवल देह धारण का है—उसमें नित्य अभाव तथा असंगति, वेदना तथा हाहाकार हैं। इसलिए वहाँ सृष्टि की नवीनता नहीं है—वहाँ है केवल पुरातन की पुनरावृत्ति। किंतु शिल्प में हम पुरातन की पुनरावृति की कामना नहीं रखते। हम चाहते हैं–नूतन के दर्शन, आनन्द का संदेश। पुरातन के साथ मिलन संघटित करना उत्तम दूती का काम भले ही हो, कवि का नहीं। कवि कल्प-माया के द्वारा नवीन ध्यान-लोक की सृष्टि करता है। यह मानों विश्वामित्र की सृष्टि है—सृष्टि के भीतर द्वितीय सृष्टि। आदि सृष्टि को कवि नवीन रूप में कल्पना करता और अपनी रचना में रमणीयता निविष्ट करता है। इसी से कवि की वीणा से दुःख की रागिणी भी मधुर छंद से निनादित होती है। कवि के अलौकिक लोक में गहनतम विषाद भी मधुरतम आनन्द बहाकर लाता है। साहित्यदर्पणकार ने इस माया का नाम दिया है—"अलौकिक विभाव"। साहित्य-क्षेत्र में वस्तुवादी भी, यदि वह यथार्थ शिल्पी हो, जीवन की साधारण प्रतिच्छवि गठित कर निरस्त नहीं होता। रूप की तूलिका से जो अपूर्व आलेख्य वह अंकित करता है, वह वास्तव की अपेक्षा बहुपरिमाण में पूर्णतर, गहनतर तथा मधुरतर बनता है।

वास्तव भी काव्य में सत्य का प्रकाश है–तथ्य का नहीं। कारण, वस्तु और उसका अनुबोध एक ही बात नहीं। इस अनुबोध का नाम ही सत्य है। तथ्य काव्य का उद्दीपक हो सकता है, उपजीव्य नहीं। वस्तु जहाँ वस्तु ही रह जाती है—

अंतर्निहित भाव को इंगित नहीं करती, वहाँ चित्र या तो 'पट' है, नहीं तो आलोक-चित्र—आलेख्य की नाईं परिस्फुट नहीं होता। साहित्य में वास्तवता का अर्थ होना चाहिए वस्तु के सम्बन्ध में हमारी अनुभूतियों को प्रकाशित करना, न कि घटनावली का परम्पराहीन अनुलिखनमात्र। यदि हम किसी वृक्ष या मनुष्य का चित्र बनाना चाहें, तो उसके बाहरी अवयव की अविकल नकल करना ही यथेष्ट नहीं—उसको किसी भाव के प्रतीक-रूप में प्रतिभात करना होगा। बाहर के रूप को प्रकाशित करने के लिए यंत्र ही कदाचित् यथेष्ट हैं; किंतु बिना कवि के मंत्र के उस प्रतिमा के भीतर प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो सकती—निर्जीव मूर्ति लावण्य के हिल्लोल से लोलायित नहीं हो सकती।

शिल्प में 'सुन्दर' अविभाज्य ढंग से 'शिव' के साथ उलझा हुआ है। अर्थात् जो काव्य जिस परिमाण में सुन्दर है, वह उसी परिमाण में कल्याण के आदर्श को अभिव्यक्त करता है। यह कल्याण जहाँ अविमिश्र नीति या उपदेश का आकार ग्रहण करता है, वहाँ यह काव्य की कोटि से विच्युत-सा प्रतीत होता है। किंतु जहाँ स्वाभाविक नियम से सुन्दर के भीतर कल्याण का जन्म होता है, वहाँ रस भी अव्याहत रहता है और हमारे मन की कल्याण-वृत्ति भी यथेष्ट प्रसाद तथा प्रसार प्राप्त करती है। वस्तु-जगत् के अनेक स्थलों में सामंजस्य का अभाव-सा मालूम पड़ता है—कोई घटना क्यों हुई, अनेक स्थलों में यह हमारी समझ में नहीं आती। इस कारण वे आकस्मिक या अप्रासंगिक अनुमित होती हैं। किंतु कल्पना के जगत् में 'आकस्मिक' का स्थान नहीं—वहाँ द्रष्टा या कवि समस्त

घटनाओं को एक अव्याहत अखण्ड दृष्टि से अनुभव करके उन्हें प्रकाशित करता है। सुतराम् समग्र घटना के प्रत्येक अंश के तात्पर्य के विषय में पाठक का कोई संशय नहीं रहता। संहति-चातुर्य या अवयव-सौष्ठव (Symmetry or coherence) एकाधार में सौंदर्य तथा कल्याण है। रामायण में श्रीरामचन्द्र के दुःख की कहानी के भीतर परिपूर्ण कल्याण का आदर्श है। स्वेच्छा-प्रवृत्त निर्वासन के भीतर से भी—व्यक्तिगत चरम दुःख के भीतर से भी—समष्टि-गत कल्याण की झांकी मिलती है। इसी कारण यह इतनी हृदय-संवेद्य तथा अनवद्य है। सीता-निर्वासन को यदि विच्छिन्न घटना के हिसाब से लिया जाय, तो उसमें हृदयहीन निर्ममता मिलेगी। किंतु काव्यगत सारी घटनाओं पर यदि समग्र रूप में दृष्टिपात किया जाय, तो हम शिव-सुन्दर की एक अनिर्वचनीय अनुप्रेरणा पायेंगे। वहाँ है राज्य तथा प्रजा-साधारण के कल्याण के हेतु राजाधिराज का अपूर्व स्वार्थ-विसर्जन—आराध्य देवता के मंगल की ओर ताकती हुई पति-सर्वस्वा सती की ज्वलंत आहुति। कालिदास के काव्य में आषाढ़ के आकाश की संचीयमान घनघटा यदि निखिल धरणी की पिपासा-शांति का आश्वास न वहन कर केवल यक्ष के ही विरहोपशम का कारण होती—कवि-प्रेरित दूत-रूपी मेघ की सांत्वना-वाणी यदि हमारे भी भावी मिलन की सूचना न देती, तो वह कभी इतनी हृदय-संवेद्य न होती। दुःख यदि बराबर केवल कच्चा माल ही रह जाता—उससे कोई शिल्पजात द्रव्य बनाने की सम्भावना न रहती, तो वह स्थायी रूप में भीषण कृष्ण-सर्प के समान संसार में त्रास का कारण होता। किंतु निपुण कारीगर के हाथ में दुःख का काया-पलट हो जाता है। हम दुःख के उपभोग के लिए व्याकुल

हो जाते हैं। अलङ्कार-शास्त्र ने जिसे "अलौकि विभावत्व" बताया है, उसका अर्थ है दुःख को क्षेम में, बीभत्सता को प्रेम में परिणत करना—संगतिहीन लौकिक संस्थान को भाव के स्वर्ग में सुसंगत तथा सामंजस्यपूर्ण बनाकर कल्पना करना—संक्षेप में, जीवन की समस्त घटनाओं को माधुर्य से पागना।

मम्मटाचार्य ने कहा है कि काव्य का एक गुण 'शिवेतर' का अर्थात् दुःख का नाश है। उस दुःख-नाश-प्रसंग की अवतारणा करनी चाहिए कांता-सदृश मधुरता-युक्त उपदेश के द्वारा। शब्द प्रधानतः तीन प्रकार के हैं—(१) प्रभु-सम्मित, (२) सुहृद्-सम्मित, और (३) कांता-सम्मित। प्रभु-सम्मित वाक्य को हम भय अथवा श्रद्धा के साथ ग्रहण करते हैं, अतएव मानव-जीवन पर उसका प्रभाव कम है। उदाहरणस्वरूप वेद्वाणियों को लीजिए। इन पर हमारा यथेष्ट सम्मान तथा श्रद्धा है। किंतु क्या ये हमारे चित्त को सुधारस-सिक्त कर सकती हैं? सुहृद्-सम्मित पुराणेतिहास भी हमारे जीवन पर पूर्ण प्रभाव-विस्तार नहीं करते। इसी हेतु काव्य के स्वरूप पर विस्तार करते हुए आचार्य ने प्रिया के उपदेशों के अनुरूप उपदेशों का उल्लेख किया है। अमोघ इनका प्रभाव है—आश्चर्य इनकी व्याप्ति। ललित-पद-कदम्ब-सन्दीपित कवि-कथा कान की राह हमारे मर्मस्थल में प्रवेश पाती तथा आनन्द-घन चैतन्य का उद्बोधन करती है। काव्य वह सुदुर्लभ वचन है जिसके भीतर 'हित' तथा 'मनोहारी' का अङ्गाङ्गी मिलन है।

मूलतः अनन्त से अभिन्न होते हुए भी मनुष्य क्षुद्र से भी क्षुद्र है। इसी में उसके नैतिक जीवन की प्रेरणा निहित है। मनुष्य अनन्त होते हुए भी सांत है, इस विरोध के परिहार के

निमित्त अर्थात् अपने जीवन को अनन्त में विलीन करने के हेतु जो चेष्टा मनुष्य करता है वही उसका नैतिक जीवन है। व्यक्तिगत जीवन को विश्व-जीवन के साथ ओत-प्रोतरूप में मिला हुआ न देखने से उसकी क्षुद्रता नष्ट नहीं होती। एक फूल यदि अन्य फूलों से विच्छिन्न ही रह जाय, तो माला की रचना सम्भव नहीं। इसलिए सृष्टि के अन्तर्निहित एकत्व की उपलब्धि के लिए आत्मा को व्यक्तिगत जीवन से विश्व-जीवन में प्रसारित कर देना चाहिए। यथार्थ में व्यक्ति और समाज स्वतन्त्र पदार्थ नहीं—वे एक ही अखण्ड वस्तु के अन्तर्गत हैं। कवि की वीणा में निखिल की यही चिरन्तन वाणी ध्वनित होती है।

विख्यात कवि तथा समालोचक मैथ्यु आर्नल्ड ने एक स्थान पर कहा है कि जीवन पर अध्यात्म-भाव के प्रयोग का नाम ही काव्य है। *

उन्होंने इस वाक्य में नीति का उल्लेख किया है, ऐसा न समझना चाहिए; न उन्होंने नीतिमूलक काव्य को श्रेष्ठ आसन दिया है। उनके मत में जीव-जीवन के साथ जिन भावों का कोई संयोग नहीं है, वे कितने ही महान् क्यों न हों, काव्य के सम्पत्ति की वृद्धि नहीं कर सकते। कारण, जीवन से विच्छिन्न भाव हमारे लिए निरर्थक हैं। वे काव्य के विषय के सम्पूर्णतः अयोग्य हैं। महाकाश में वह जो नीहारिका लटक रही है, मेरे लिए उसका कोई अर्थ नहीं है यदि नक्षत्र-लोक की भाषा के साथ मेरे अन्तर की भाषा की कोई समता न हो। वैज्ञानिक अपनी गवेषणा के द्वारा नक्षत्रों का आविष्कार करता है। उन आविष्कारों से ज्ञान की वृद्धि भले हो, किन्तु हम उन्हें काव्य

*Application of moral ideas to life.

नहीं कह सकते। विज्ञान की स्वाभाविक गति सामान्य से विशेष की ओर है, किन्तु काव्य की विशेष से सामान्य की ओर। जो कुछ निज का है, काव्य-माया से वह सहज में ही सबका हो जाता है।

किंतु जहाँ 'मङ्गल' केवल शीलोपदेश में पर्यवसित होता है, वहाँ काव्य हो जाता है तत्त्वों का ठाठ—सत्य परिणत होता है तथ्य में। श्रद्धा आती है—संभ्रम उत्पन्न होता है; किंतु आनन्द अलक्ष्य में दूर भागता है। वर्ड्स्वर्थ के समान उच्च कोटि के कवि ने भी, समय-समय पर अपने काव्य में, नीति में कल्याण का भ्रम किया है, और अज्ञातसार नीरस नीति-तत्त्व की अवतारणा की है। स्थान-स्थान पर उनका काव्य नीरस, दार्शनिक उक्तियों में परिणत हुआ है। एक उदाहरण लीजिए—"भगवान् हैं और वह सब घटनाओं को कल्याण-युक्त बना रहे हैं।"* इस उक्ति में न आवेग की प्रगाढ़ता है, न कल्पना का वर्ण-राग, न विषयातीत वस्तुओं की ध्वनि, न शुभ सुन्दर का स्तव-गान, न अप्रत्याशित का विस्मय। यह ललित गीति का कलित कल्लोल नहीं कहा जा सकता। इसी कारण शिल्प में, साहित्य में, सङ्गीत में 'सुन्दर' का आसन सर्वाग्र है, और उसके साथ रहता है मङ्गल। इसीलिए चारु शिल्प की प्रथम तथा प्रधान बात है—प्रकाशसौंदर्य के दृष्टि-कोण से सत्य-मङ्गल का एकात्म-दर्शन। कान्ता-सम्मित शब्द में इस रस-सम्पृक्त प्रकाश की ही व्यंजना है। यह प्रकाश ही सत्य वस्तु को सुन्दर बनाता है। क्षेम को

---

* "His everlasting purposes embrace accidents converting them to good."

प्रेम में परिणत करता है—संसार के मरु-प्रांतर में सुरधुनि की सुधा-धारा प्रवाहित कर देता है।*

जब सुना गया—"सहसा विदधीत न क्रियाम्"—तब कदाचित् क्षण-काल के लिए कर्त्तव्य-बुद्धि जाग्रत हुई। किंतु उससे प्राणों की आवाज़ न मिली। नीरस उपदेश मस्तिष्क से हृदय-तीर्थ की ओर यात्रा कर बीच ही में रास्ता भूल गया। 'मोहमुद्गर' के मुद्गर का आघात कितने आदमी सह सकते हैं?—फिर आघात के बाद जो सब भाग्यवान् व्यक्ति जीवित रहे हैं, उनमें से कितने उससे उद्दीप्त हुए हैं? काव्य के अमृत-सङ्गीत से यदि चित्त-वीणा में सुर-तरङ्ग न उठी—भाव के रसोल्लास से यदि जीवन-नदी में बाढ़ ही न आयी, लोगों के मन में यदि कवि-चित्त की दीप्त मणि दुःख के अन्धकार में आलोक-उच्छ्वास न लायी, तो उसकी सार्थकता कहाँ? देह के साथ देही का, तन के साथ मन का, सुन्दर के साथ सत्य का यह जो नित्य सम्बन्ध है, इसी को कीट्स ने सौन्दर्य कहा है; शेली ने प्रेम, वर्डस्वर्थ ने आत्मा और रवींद्रनाथ ने जीवन-देवता कहा है। सत्य से जब हमारा प्यार होता है तभी वह सुन्दर होता है, अर्थात् सत्य तब अनिरूप्य अवस्था से कवि-हृदय के साँचे में सुनिर्दिष्ट रूप में प्रस्फुटित होता है। जैसे जल का अपना कोई आकार नहीं है—आधार के अनुसार उसके रूप का अनुभव

* अंग्रेज़ी में जिसे Poetic justice कहते हैं, वह क्या है? निश्चय ही वह न्याय-विचार के नाम में स्वैराचर नहीं। जीवन की परिणति तथा परिपूर्णता के विषय में कवि की जो अलौकिक धारणा रहती है, अन्तर्लीन प्रतिभा की शक्ति से वह अपने अनुकूल ऐसे एक अपूर्व परिमण्डल की रचना कर लेती से, जिससे घटनासमूह स्वभाव के नियमानुसार ही आदर्श को पहुँच जाता है।

होता है, उसी प्रकार सत्य-वस्तु कवि हृदयाधार के अनुसार रूपमय अमृत के आकार में क्षरित होती है। सत्य विश्वजनीन है, सुन्दर है—कवि के विशेष अधिकार में रहते हुए भी यह सबका है। इस प्रेम या प्राण, आनन्द या जीवन का काम ही है सृष्टि अर्थात् आत्मा को बहुत रूप में, विचित्र रूप में, प्रकाशित करना। भूमा के आनन्द से ही तो यह अनन्त नक्षत्र-सनाथ विश्व का प्रकाश है। चिन्मय लोक में जो ध्यानासन पर आसीन हैं, उन्हें रूप-प्रतिमा में अधिष्ठित देखने की वासना स्वतः ही होती है। इसीलिए न अपूर्व रूप की सृष्टि की जाती है। यथार्थ में मनुष्य का आधा अंश भाव है, और आधा अंश उस भाव का प्रकाश।

कवि, देह तथा देही के मिलन का गान गाता है, वैचित्र्य के भीतर ऐक्य और ऐक्य के भीतर विचित्रता का स्वर साधता है। जगत् की आदि कविता तो अनादिकाल से ही लिखित है। उस महाकाव्य के अन्तराल में जो अर्थ प्रच्छन्न है, उसी का आविष्कार करता है, उसी की व्यञ्जना करता है मनुष्य की भाषा के द्वारा, मनुष्य के रूप के द्वारा, महाकवि। उसकी वाणी युग-युगान्तर की तमिस्रा को वेधकर आलोक का जयगान गाती जाती है—कल्प-काल की आकुल आशा उसके सङ्गीत की भाषा पाकर अमर हो जाती है।

किंतु केवल शब्द या केवल वर्ण ही शिल्प नहीं। चिन्मय आकाश के ईथर-स्रोत में भाव की विद्युत् जब शब्दों तथा वर्णों में रूपांतरित होती है, तभी वह शिल्प होती है—तभी संगीत। काव्य है भाव की एक तीक्ष्ण तथा तीव्र अनुभूति, जो जीव या उद्भिद् के समान किसी रूप का आश्रय लिये बिना नहीं रह

सकती और जो रूप-समुद्र के असंख्य तरंगोच्छ्वास के साथ अपनी ऊर्मि को जोड़ देती है। यथार्थ में कवि की दृष्टि में भाव तथा रूप—सत्य तथा सुन्दर—एक ही वस्तु हैं। सत्य का सुन्दर में रूपांतर ठीक वैसा ही है, जैसा तडित् का शब्द में रूपांतर। स्वभाव के नियमानुसार यह सहज ही में संघटित होता है। बाइबिल में एक वाक्य है—"भगवान् ने मनुष्य को अपनी प्रतिमा (प्रतिच्छाया) में गठित किया है *।" यह वाक्य यदि उलटकर कहा जाता तो अधिक युक्तिपूर्ण होता—"मनुष्य ने भगवान् को अपने रूप में गढ़ा है।" इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य ने अपने प्रेम के अधिकार से अरूप को अपना रूप दिया है। आश्चर्यजनक है प्रेम का प्रताप ; वह मर्त्य को स्वर्ग में बदल देता है—स्वर्ग को धूलिमयी धरणी की गोद में खींच लाता है। महान् से भी जो महान् हैं, वह अणु हो जाते हैं।

वस्तु-सत्ता के भीतर जो सौंदर्य निहित है, वह प्रकाशन की सुषमा से नवीनतर तथा मधुरतर सौन्दर्य का आभास लाता है। वास्तव-प्रतिमा के भाव के आधार पर प्रयुक्त होने के कारण उसके भीतर एक अत्याश्चर्य-शक्ति अनुभूत होती है। प्रयोजन के जगत् में बाँस की नली से तैलाधार या दुग्धार बनता है ; किंतु उसी के रंध्र-मुख में सघन चुंबन देने से वह आवेश में आकर जो हर्ष-ध्वनि निकालती है, उससे नर-नारी बेकल हो जाते हैं। समय-समय पर प्रतीक की सहायता से कवि ऐसे निगूढ़ भाव-सौन्दर्य की व्यंजना करता है, जो वास्तव-सौंदर्य का बहु परिमाण में अतिक्रमण कर जाता है। शुभ्र शतदल जब ज्ञान तथा पवित्रता के मूर्त प्रकाश के रूप में अनुभूत होता है, तब

* God makes man after his own image.

क्या उसका भावगत सौन्दर्य हमारे प्राणों में अनंत का इंगित नहीं लाता? समग्र विश्व-प्रकृति ही तो उस अदृश्य शिल्पी के सीमाहीन आनन्द का प्रतीक है—प्रतीक होने के कारण वह सीमा के भीतर असीम की व्यंजना लाती है। विश्व-रंगालय में दर्शक के आसन पर बैठकर कवि देखता है कि किस प्रकार से ये सुनिपुण अभिनेता नाना वेश धारण कर तथा नाना भूमिका ग्रहण कर हर घड़ी अभिनय करते हुए हमारे मन को भुलाते हैं।

भावुक मनुष्य तो बहुत हैं—निसर्ग-शोभा के आवेष्टन के भीतर भी तो बहुत-से लोग रहते हैं। हम उन्हें कवि क्यों नहीं कहते? उनमें प्रकाशन-शक्ति नहीं है, इसलिए वे कवि नहीं कहलाते। अनुभूति की असंपूर्णता ही प्रकाशन-शक्ति के अभाव का कारण है। भाव जहाँ कुहेलिका के समान नीचे के आकाश को आवृत कर रखता है, वहाँ ऊपर से धारा वर्षण की आशा व्यर्थ है। इसी से तो प्रकृति को अपनी आँखों से देखने में जो आनन्द मिलता है, उसकी अपेक्षा कवि की दृष्टि से उसे देखने में कहीं अधिक आनन्द मिलता है—मालूम होता है कि वही देखना असल देखना है—वह वैसा देखना है जैसा पहले कभी किसी ने नहीं देखा था। सारे प्रकृति-राज्य में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसके भीतर समग्रता का सौन्दर्य निहित न हो। इसीलिए कवि-ऋषि वर्डस्वर्थ ने गाया है—"कानन का क्षुद्रतम कुसुम भी मेरे प्राणों में अश्रु के अतीत भाव ला देता है।"* अंश के भीतर समग्रता की अनुभूति का परिचय कवि के सिवा और कौन दे सकता है? सर्वसाधारण की चित्तवृत्ति सुप्त रहती है, कवि ही अपने स्वर्ण-

---

* To me the meanest flower that blows can give Thoughts that do often lie too deep for tears.

दंड के स्पर्श से उसे जगाता है। तब कवि का भाव सबका हो जाता है—एक का आनन्द निखिल हृदयों को अनिर्वचनीय रस से उल्लसित कर देता है

जो कुछ सहज ही ज्ञात होता है, वह सहज ही जीर्ण भी हो जाता है। परिस्फुट होने से ही सब विषय सुन्दर नहीं होते। जिसका आद्यंत सब कुछ दृष्ट होता है, जिसका सब अंश अविकल व्यक्त हो सकता है, उसकी अपेक्षा जो कुछ अति सूक्ष्म-सुकुमार है, जो कुछ प्रकाशन के अतीत है–वही रहस्य की माया से हमें मुग्ध करता है। जगत् में जो मनुष्य अपने मन की सब बातें व्यक्त कर डालता है, वह निर्बोध कहलाता है। उसका कोई भी आकर्षण नहीं है–उसका रूप-सौष्ठव, वर्ण-वैचित्र्य इत्यादि कुछ भी हमारे निकट उसे प्रिय नहीं बना सकता। दूसरी ओर जिस तन्वंगी की श्यामल शोभा तथा नीलिम नयन रहस्य की अतलता से असीम तथा अनवगाह हैं, वह अनायास ही हमारा मनोहरण करती है। विश्व-प्रकृति के सब अंश ही यदि उपलब्ध हो जाते, तो उसे समझने के लिए आग्रह न होता। बहु-अधीत पोथी की नाईं वह अनादृत रहती। प्रतिभावान् कवियों की कृतियाँ कभी पुरानी नहीं होतीं–जितनी बार उन्हें पढ़ो, वे अनिर्वचनीय संकेतों से हमें नव-नव आनंदलोक में ले जाती हैं—उनके पीयूष-वर्षण का विराम नहीं होता। अनन्त के अभ्यंतर में जो आश्रांत संगीत अनादि-काल से ध्वनित हो रहा है, उसके दो-एक स्वर कब कवि-वीणा से अमृतधारा के समान बरस पड़ें, उन्हीं के लिए जगत् निर्निमेष नेत्रों से प्रतीक्षा करता रहता है।

रसानुशीलन

किसी चित्रकार को एक वृक्ष का चित्र बनाते देखकर एक अशिक्षित मनुष्य ने उससे पूछा था—"वृक्ष तो सामने ही है, फिर पट पर उसका चित्र बनाने का क्या प्रयोजन है?" यद्यपि यह प्रश्न सरल है, परन्तु इसका समाधान उतना सहज नहीं। इस प्रश्न से चित्र-कला का निगूढ़ रहस्य ही पूछा गया था—"चित्रकार क्यों चित्र बनाता है? लोग चित्र क्यों देखते हैं?" इसका संक्षिप्त उत्तर यह है, "जो चित्र बनाता या देखता है उसे इससे आनंद मिलता है।" वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु, सुपरिचित तथा नूतनत्व-हीन होने पर भी चित्र में उसका नूतनत्व है। चित्र प्रकृत का अनुकरण है। इस अनुकरण में ही चित्रकार का आनंद है। अनुकरण की सफलता से ही उसको संतोष होता है।

अनुकरण चित्र-शिल्प का प्रथम स्तर है। परवर्ती स्तर में चित्रकार भाव-राज्य में विचरता हुआ स्मृत वस्तु-समूह के इच्छानुसार संयोग-वियोग द्वारा नूतन सौंदर्य की सृष्टि करता है। प्रतिभा-संपन्न चित्रकारलोग अपने-अपने चित्रों में ऐसा एक भाव व्यक्त करते हैं, जिससे वे मानवजाति के अविनश्वर संपत्ति बने रहते हैं। राफ़ेल का मैडोना का चित्र अमर हो गया है। उसमें वात्सल्य रस मूर्तिमान है। दूसरे-दूसरे चित्रकार अन्यान्य रसों की मनोमोहक प्रतिकृति अंकित कर यशस्वी हो गये हैं। किसी ने शत्रु दलन में कृत-संकल्प वीर के तेजोदृप्त भाव का, किसी ने मुमूर्षु संतान के पास बैठी, रो रही माता के करुण दृश्य का, किसी ने परदेश जानेवाले पति के भावी

विरह से खिन्न, पतिपरायणा पत्नी की कातर मुखच्छवि का चित्र अंकित कर मानव मन को अशेष आनंद प्रदान किया है।

रस-सृष्टि करनी ही ललित-कला वा चारु-शिल्प, चित्र-विद्या, भास्कर्य, स्थापत्य, नृत्य-कला, सङ्गीत तथा काव्य—का उद्देश्य है। प्राकृत वस्तु को देखकर शिल्पी के मन में एक अनुभूति होती है, जिससे भाव की उत्पत्ति होती है। उस भाव के साथ शिल्पी अपनी कल्पना से बने हुए अन्य भावों का संमिश्रण करते हुए सौंदर्य-सृष्टि करने को प्रवृत्त होता है। यदि वह कृतकार्य होता हो और यदि उसकी कृति से वह सहृदय द्रष्टा वा श्रोता वा पाठक के मन में आनंद उत्पन्न करने को समर्थ होता हो, तो उसके द्वारा रस की सृष्टि हुई है समझना चाहिये।

भाव जैसे चित्र के द्वारा व्यक्त होता है, वैसे शब्दों के द्वारा भी व्यक्त हो सकता है। भाषा के द्वारा भी ऊपर लिखे हुए भाव प्रकाशित हो सकते हैं। जिस भाषा के द्वारा सौंदर्य की सृष्टि होती है, उसे काव्य कहते हैं। कवि कल्पना की सहायता से अपने हृदय-उद्यान से नाना भावों को चुन कर, जहाँ जिसका सुष्ठु समावेश हो सकता है, वहाँ उसको वैसे ही ग्रथित कर सौंदर्य की सृष्टि कर सकता है। वह कभी माधुर्य का, कभी करुणा का, कभी उत्साह का, कभी भय का, कभी घृणा का, कभी विस्मय का अथवा कभी शान्ति का चित्र अंकित करता है। गठित को पुनर्गठित कर कवि आनंद पाता है। उसके शिल्प की आलोचना कर पाठक आनंद में विभोर हो जाता है। अतएव काव्य का भी लक्ष्य आनंद-विधान है। इन आनंद-संभूत नाना भावों को रस कहते हैं। रस की उपलब्धि से जो आनंद उत्पन्न होता है, वह अनिर्वचनीय है।

क्रियाशील अवस्था में मन कभी बाहरी विषयों में और कभी भीतरी विषयों में संयुक्त रहता है। इन मनः-संयोगों से नाना भावों की उत्पत्ति होती है। सब प्रकार के चित्त-विकारों का साधारण नाम है भाव। भाव की अवस्था में मानसिक क्रिया को अत्यंत तीव्रता प्राप्त होती है, और मन में एक प्रकार की एकाग्रता उपस्थित होती है। युक्ति से भाव संपूर्णतया विभिन्न है। अनुराग, दया, स्वदेशप्रीति गुरुजनों में तथा ईश्वर में भक्ति इत्यादि भावों से उत्पन्न होते हैं। संसार में युक्ति के प्रभाव से भाव का प्रभाव अधिक है। तर्क और विचार से युक्ति की उत्पत्ति है। संसार यदि केवल युक्ति के द्वारा चालित होता तो वह शुष्क तथा नीरस मरुभूमि हो जाता। दूसरी ओर यदि सब कोई भावों के दास और युक्ति से विवर्जित होते तो समाज अचल हो जाता। युक्ति तथा भाव का उचित सम्मिश्रण ही संसार-यात्रा का प्रकृष्ट उपाय है। भाव आनंद का जनक है।

मन की तीन अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है—चिंता तथा ज्ञान की अवस्था, अनुभूति की अवस्था और इच्छा की अवस्था। चिंता, धारणा, स्मरण, मनन इत्यादि ज्ञान की अवस्था के अंतर्गत हैं। भय, भक्ति, अनुराग, क्रोध, लोभ इत्यादि अनुभूति की अवस्था के अंतर्गत हैं, और वासना, आकांक्षा, अध्यवसाय इत्यादि इच्छा की अवस्था के अंतर्गत हैं। वेदना (feeling) तीव्रता प्राप्त करने से भाव वा आवेग (emotion) में परिणत होती है।

क्रोध, लोभ, भय, अनुराग इत्यादि भाव हैं। भावों में कुछ

सुखदायक हैं और कुछ दुःखदायक । सुख-दुःख-विवर्जित कोई मानसिक अवस्था है या नहीं, यह कहना कठिन है। अनुभूति-मात्र ही भाव है। अनुभूति-मात्र ही अंतःकरण की वस्तु है। कुछ भाव आत्मानुगामी हैं, कुछ परानुगामी, कुछ उभयानुगामी और कुछ उभय-निरपेक्ष । शेषोक्त भाव समूह सत्य, कल्याण या सौंदर्य के आदर्श से उत्पन्न हैं। ये भाव रसों में गिने जा सकते हैं।

एक सुन्दर गुलाब देखने से हमारे मन में जिस भाव का उदय होता है, उसको हम सौंदर्य रस कह सकते हैं। रूप के सौंदर्य से, वर्णों के माधुर्य से, अंगों के सौष्ठव से, शब्दों के विन्यास से या गति की भंगिमा से कौन नहीं मुग्ध होता, किसके अंतःकरण में भावों का उदय नहीं होता ? सुन्दर वस्तु की अनुभूति से जो सुख होता है, जो तृप्ति मिलती है, वही सौंदर्य रस है। सौंदर्य क्या है ? सुन्दर किसे कहते हैं ? सौंदर्य की शक्ति से सब कोई अभिभूत होते हैं ; किन्तु वे कह नहीं सकते कि सौंदर्य क्या है। सुन्दर वस्तु से मन का उल्लास होता है। इसी उल्लास का नाम है सौंदर्य रस। यह रस संपूर्ण अनाविल है। इसमें दुःख का लेशमात्र नहीं है । इस प्रकार की पवित्र प्रीति अन्य किसी वस्तु से नहीं प्राप्त होती। सौंदर्य-प्रीति संपूर्ण स्वार्थ-शून्य प्रीति है। यह प्रीति सार्वजनिक प्रीति है। उपभोग से इस प्रीति का क्षय नहीं होता । एक व्यक्ति के उपभोग के समय दूसरे का उपभोग असंभव नहीं होता।

दर्शन तथा श्रवण, ये दो इंद्रियाँ सौंदर्य-उपभोग के प्रधान सहाय हैं। अनुभूत विषय में शृंखला तथा सामंजस्य लक्षित होने से सौंदर्य-प्रीति उत्पन्न होती है। जिस वस्तु के भिन्न-भिन्न

विभागों में ऐक्य है, वही सुंदर है, और जिसमें शृंखला तथा सौष्ठव का अभाव है, वही कुत्सित। सुंदर सुख देता है और कुत्सित दुःख। सुंदर में अनुराग और कुत्सित में विराग उत्पन्न होता है। चरित्र-सौंदर्य ही श्रेष्ठ सौंदर्य है।

काव्यानुशीलन में जिस सौंदर्य की अनुभूति होती है, वह मानसिक अनुभूति है। और उसकी उपभोग्यता कवि की निपुणता पर अवलंबित है। 'साहित्य-दर्पण' में विश्वनाथ कविराज ने काव्य की परिभाषा यों दी है—"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्," अर्थात् कवि-कृत जो रसात्मक रचना है, वही काव्य है। उनके मत में रस ही काव्य की आत्मा या सार वस्तु है। काव्य गद्य में, पद्य में या गद्य और पद्य, दोनों में ग्रथित हो सकता है। जिस प्रकार नीरस काष्ठ को वृक्ष नहीं कह सकते, उसी प्रकार नीरस वाक्य को भी काव्य नहीं कह सकते। काव्य का जीवन वह रस-वस्तु क्या है? यों तो 'रस' शब्द रस् धातु से निकला है, और रस्-धातु का अर्थ है आस्वादन करना। रस्यते इतिरसः, अर्थात् जिसका आस्वादन किया जाता है, जो कुछ आस्वादन-योग्य है, वही रस है। आहार्य वस्तुओं में जो कटु, तिक्त, कषाय, अम्ल, मधुर तथा लवण का स्वाद मिलता है, वही साधारण अर्थ में रस कहलाता है। आलंकारिक भाव से रस-शब्द का अर्थ है उत्कर्ष। रस स्वयं कोई वस्तु नहीं है। वह ऐसा एक भाव है, जो उपभोग्य है। रस नाना प्रकार के हैं। परन्तु भारतवर्षीय आलंकारिकों के मत में रस नव प्रकार के हैं—(१) शृंगार, मधुर या उज्ज्वल-रस, (२) हास्य-रस, (३) करुण-रस, (४) रौद्र-रस, (५) वीर-रस, (६) भयानक-रस, (७) वीभत्स-रस, (८) अद्भुत-रस और, (९) शांत-

रस। एक-एक रस एक-एक मानसिक भाव का प्रकाश है। रस-चित्रण में सब कवि समान नैपुण्य नहीं दिखा सकते। काव्यामोदी व्यक्ति काव्यानुशीलन करते हुए स्थल-विशेष के सौंदर्य में यदि ऐसा विभोर हो जाता हो कि उसको अन्य-किसी वेदितव्य विषय का अनुभव नहीं होता, और उस स्थल का भाव मन में प्रवेश कर यदि उसको अनिर्वचनीय आनंद से परिप्लुत करता हो, तो जिसे काव्य-रस कहते हैं, वह उसी का आस्वादन करता है। जो कवि इस प्रकार से रस को परिस्फुट कर सकता है, वही यथार्थ कवि है। जिसकी वर्णना मर्मस्थल को स्पर्श नहीं करती, उसकी गणना श्रेष्ठ कवियों में नहीं हो सकती।

एक-एक रस का एक-एक स्थायी भाव (Central Idea or Permanent Condition.) रहता है। वह भाव उस रस में सब समय वर्तमान रहता है। दूसरा कोई भाव उस भाव का आवरण नहीं कर सकता। जैसे शृंगार-रस का स्थायी भाव रति या अनुराग, हास्य-रस का स्थायी भाव हास, करुण-रस का स्थायी भाव शोक, रौद्र-रस का स्थायी भाव क्रोध, वीर-रस का स्थायी भाव उत्साह, भयानक-रस का स्थायी भाव भय, बीभत्स-रस का स्थायी भाव जुगुप्सा या घृणा, अद्भुत-रस का स्थायी भाव विस्मय और शांत-रस का स्थायी भाव शम या शांति है। इनके अतिरिक्त और भी स्थायी भाव हैं, जिनसे अन्यान्य रसों की उत्पत्ति होती है। कुछ अतिरिक्त रसों के नाम यहाँ दिये जाते हैं—वात्सल्य-रस, भक्ति, सहानुभूति। अपत्य-स्नेह वात्सल्य-रस का स्थायी भाव है।

किसी-किसी आलंकारिक ने वात्सल्य-रस को शृंगार-रस के अंतर्गत समझा है। जो ज्ञानी, न्यायवान, संयमी, कर्तव्य-

परायण, आदर्श-चरित्र है, वही हमारी भक्ति का पात्र है। भक्ति में आत्मोत्सर्ग तथा अनुराग है। सहानुभूति में भी अनुराग है। इंद्रिय-शक्ति के विकास के साथ सहानुभूति का विकास होता है। दूसरे की अनुभूति को हृदयंगत करने की शक्ति का नाम है सहानुभूति।

पहले कहा गया है कि कुछ भाव आत्मसंपृक्त, कुछ पर-संपृक्त, कुछ आत्म-पर-संपृक्त और कुछ आत्म-पर-निरपेक्ष हैं। भय और क्रोध आत्म-संपृक्त भाव हैं। अनुराग और घृणा पर-संपृक्त भाव हैं। हास, शोक तथा विस्मय आत्म-पर-संपृक्त हैं। उत्साह (देशानुराग, दया, दान, तथा धर्म) और शांति आत्म-पर-निरपेक्ष भाव हैं। ये सब भाव हमलोगों को कर्तव्य और धर्म के पथ में चालित करते हैं, अतएव ये श्रेष्ठ भाव हैं। सुख, दुःख, राग, द्वेष के अतीत जो भाव हैं वेही शम या सात्विक भाव हैं।

भय (Terror) एक आत्म संपृक्त भाव है। अज्ञात विषय से इस भाव की उत्पत्ति होती है। मन की दुर्बलता, अभिज्ञता की स्वल्पता और स्वावलंबन के अभाव से अज्ञात विषय भयावह मालूम होता है। भयके समय शरीर तथा मन के कुछ परिवर्तन हुए होते हैं। आप एक बाघ के सामने आ गये। अनिष्ट की आशंका से आप के मन में भय का सञ्चार हुआ, आपका मुख विवर्ण हो गया, आपका शरीर काँपने लगा, आपके अंग-प्रत्यंग शिथिल हो गए, आपकी जिह्वा शुष्क हो गई और शरीर पसीने से तर हो गया। आपके मन में भी महा प्रलय उपस्थित हुआ। अब आप द्वितीय वस्तु पर ध्यान नहीं दे सकते ; आपका सब ध्यान भीति-प्रद वस्तु पर एकत्र है।

अब स्मृति-शक्ति बहुत प्रबल है। इस स्मृति से मन में केवल अतीत भयों की बातें ही याद आती हैं। कल्पना-शक्ति की गति भी द्रुत है। भविष्यत विपद् के नाना प्रकार के चित्र मन में उदित होते हैं। इच्छा-शक्ति अब हीन-वीर्य है, मानसिक क्रियाओं को संयत करने में आप अक्षम हैं। भय से परित्राण पाने के लिये मन की सब शक्तियाँ नियत हैं। भय का एक परिणाम है कापुरुषता। परन्तु जो भय परमात्मा में विश्वास उत्पन्न करता है, जो आशा का उद्दीपक है, भगवत-प्रीति का प्रवर्तक है, वह शुभ है।

क्रोध (Resentment) अपमान के ज्ञान से उत्पन्न होता है। क्रोध के समय चक्षु रक्त-वर्ण होते हैं, दातों का घर्षण होता है, हस्त मुष्टिबद्ध होते हैं, श्वास-प्रश्वास प्रबल होती हैं, स्वर कर्कश होता है, और हृदय ज़ोर से धड़कने लगता है। मन अत्यंत चंचल होता है, और चिंता-शक्ति लुप्त हो जाती है। प्रतिशोध की इच्छा बलवती होती है।

अनुराग (Love) एक पर-संपृक्त भाव है। वह मनुष्य की एक स्वाभाविक अनुभूति है। मनुष्य अकेला नहीं रह सकता। एक मनुष्य दूसरे से मिलना चाहता है। इस मिलन की वासना से अनुराग की सृष्टि होती है। अनुराग मानवों का मिलन-सूत्र है। अनुराग ही समाज-बंधन का हेतु है। नाना कारणों से अनुराग की पुष्टि और वृद्धि होती है। शिशु निराश्रय है, इसलिये उसमें अपनी आश्रय-दाता माता के प्रति इतना प्रेम है। जिनसे हम सद्व्यवहार पाते हैं, जो-जो हमारे प्रति सदय हैं, उन्हीं के प्रति हम आकृष्ट होते हैं। जब हम सुख के सागर में संतरण करते हैं, तब हमारे अनुराग की मात्रा शायद बढ़ जाती है। तब हम सब को

प्रीति की आँख से देखते हैं। स्त्री-पुरुष का प्रेम एक स्वाभाविक वृत्ति है। दोनों में आकर्षण अति तीव्र है। इनका प्रेम ही मधुर-रस का आधार है। कवियों ने इस भाव का सब से अधिक उप-योग किया है।

घृणा (Disgust) सामाजिक बंधन की विरोधिनी है। तथापि घृणा की उपकारिता अस्वीकृत नहीं की जा सकती। जो कुछ बुरा है, कुत्सित है, उसी से हम घृणा करते हैं। पाप से घृणा कीजिये, समाज का मंगल होगा। मैले, सड़े, दूषित पदार्थ स्वास्थ्य के लिये हानि-जनक है। कुछ ऐसी चीज़ें हैं, जो न्यक्कार-जनक हैं। उनसे दूर रहना चाहिये।

हास (Mirth) सुंदर है; परंतु इसमें सुंदर विरोधी-भाव भी है। किसी चित्र या संगीत के भिन्न-भिन्न अंशों में सामंजस्य देख पड़ने से उसके सौंदर्य की अनुभूति होती है, किंतु उस सामंजस्य का अभाव होने से विरक्ति या हास्य का उद्रेक होता है।

दर्शक की प्रकृति या सामयिक मनोभाव के अनुसार इन दोनों भावों में से एक का उदय होता है—कोई चिढ़ जाता है और कोई हँस देता है। विकृत वाक्यों के श्रवण अथवा विकृत वेशादि के दर्शन से मुख-प्रसन्नतादि-जनक सुखयुक्त भाव-विशेष को हास कहते हैं। उपहास तथा परिहास इसके अन्तर्गत हैं। समाज वा व्यक्ति-विशेष में सामञ्जस्य का अभाव अर्थात् भ्रम, त्रुटि वा दुर्नीति, दृष्ट होने से उसके संशोधन के नाना उपायों में उपहास एक है। (Cartoon) का उद्देश्य भी उपहास-मूलक है।

शोक (Sorrow) का हेतु है इष्ट-नाश। प्रिय व्यक्ति या प्रिय वस्तु के विनाश से जो चित्त में संकोच का भाव उत्पन्न होता है, वही शोक है। शोक में अन्याय और दुःख का भाव है।

विस्मय (Wonder) अदृष्टपूर्व या अश्रुतपूर्व किसी पदार्थ को देख कर या किसी विषय को सुनकर मन में जिस भाव का उदय होता है, उसे विस्मय कहते हैं। विस्मय सुखदायक हो सकता है, और कभी दुखदायक भी। यदि किसी नूतन वस्तु पर दृष्टि पड़ जाय, जो अति वृहत् है, जो हमारी अवधान-शक्ति के बाहर है, तो वह दुःखदायक है। भगवान का विश्वरूप भी अर्जुन को भीतिप्रद हुआ था। वह सुन्दर है, इसलिये उसे जानने की इच्छा होती है, परन्तु वह इतना बड़ा है कि हमारे-ज्ञान से अतिरिक्त है, अतएव यहाँ भीति और अशांति आकर उसके सौंदर्य-जनित सुख को नष्ट करती हैं। पर्वत और समुद्र विराट है, इसलिये उनके दर्शन में प्रीति तथा भय मिश्रित होते हैं। जो कुछ मन को संकीर्णता की सीमा के बाहर ले जाता है, जो कुछ ससीम की गति का उल्लंघन कर असीम का निर्देश करता है, वही विराट (Sublime) है।

उत्साह (Magnanimity)—मनुष्य का जीवन कर्ममय है। कर्म द्विविध है—सत् और असत्। मनुष्य में सदसत्-विचार-शक्ति है। जिस कर्म से हमारे चरित्र की उन्नति होती है, जिस कर्म से मनुष्य-समाज का मंगल होता है वा उन्नति साधित होती है, वही हमारा कर्तव्य है। समाज का मंगल-साधन हमारा प्रधान कर्तव्य है। "कर्तव्य करो" यह विवेक का आदेश है। सत्-कर्म-मात्र ही हमारा कर्तव्य है। चरित्र का अभिव्यंजक है कर्म और कर्म का अभिव्यंजक है कर्तव्य।

नाना प्रकार के कर्तव्यों में त्याग, पर-हितैषणा, स्वदेशानुराग और इश्वरानुराग श्रेष्ठ कर्तव्य हैं। इन कर्तव्यों के पालन के लिये पहले ही से दृढ़ उद्योग का प्रयोजन है। इस उद्योग को उत्साह

कहते हैं, कोई स्वदेशानुरागी वीर होते हैं, कोई दया-वीर, कोई दान-वीर और कोई धर्म-वीर।

शम (Quietism) है सुख-दुःखातीत उदासीनता का भाव। संसार की असारता और सब पदार्थों की अनित्यता के ज्ञान से चित्त की निश्चेष्ट अवस्था होती है। उस अवस्था में जो आत्म-विश्राम-जनित सुख उत्पन्न होता है, वही शम है। यह सात्त्विक भाव है। साहित्य दर्पणकार ने रस की परिभाषा दी है—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा ;
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्।

विभाव-अनुभाव और संचारी भाव के द्वारा व्यक्त हो कर रति इत्यादि स्थायी भाव रसज्ञ के मन में रस का भाव उत्पन्न करते हैं। स्थायी भाव जब विभाव-अनुभाव वा संचारी भाव के मिश्रण से एक अपूर्व पदार्थ में परिणत होकर मनुष्य-हृदय में अनिर्वचनीय आनंद उत्पन्न करता है, तब वह रस कहलाता है। विभाव-अनुभाव और संचारी भाव के लक्षण आगे दिये जायँगे। भाव से ही रस की एवं रस से ही आनंद की उत्पत्ति होती है। परन्तु अनुभूति सब की समान नहीं होती। सहृदय व्यक्ति के सिवा कोई काव्य रस का आस्वादन नहीं कर सकता। जिन्होंने जटिल विषयों की आलोचना में जीवन बिताया है, उनके हृदय अपेक्षाकृत शुष्क तथा नीरस हो जाते हैं। उन्हें प्रायः काव्य-चर्चा की रुचि नहीं होती। इसलिये वे काव्य-रसास्वादन से सम्यक् आनंद उपभोग नहीं कर सकते।

"यदि रस का उद्देश्य आनन्द देना ही है, तो करुण, भयानक इत्यादि रसों से आनन्द प्राप्ति की संभावना कैसे

है ?" जिनको यह आपत्ति है, वे कहेंगे कि शोक के दृश्य से शोक के भिन्न अन्य कोई भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। भय की आलोचना से भय ही उत्पन्न होता है। पर यह कथन कुछ सत्य होने पर भी यह याद रखना होगा कि हरिश्चन्द्र-नाटक का अभिनय देखने के समय, अथवा श्रीरामचन्द्र के द्वारा सीता जी के त्याग का विवरण पढ़ने के समय हरिश्चन्द्र या सीता जी की दुर्गति यथार्थ ही हमारे दृष्टिगोचर नहीं होती। हम केवल कवि-रचित वर्णन पढ़कर या उसका अभिनय देख कर करुण-रस में डूब जाते हैं। यदि वर्णन या अभिनय ऐसा हो कि श्रोता या दर्शक अपना व्यक्तित्व भूल कर ऐसे भ्रम में पड़ जाय कि वह सत्य घटना ही देख रहा है, तो यह समझना होगा कि उस काव्य की रचना में कवि ने और नाटक के अभिनय में अभिनेता ने पूर्ण नैपुण्य दिखाया है। स्वभाव का प्रकृत अनुकरण ही शिल्प का चरमोत्कर्ष है, ऐसा किसी किसी का मत है।* उत्कृष्ट रचना तथा निपुण अभिनय की ऐसी एक-शक्ति है, जिससे श्रोता या दर्शक तत्काल के लिये अपने को नायक या अन्य किसी नाट्योल्लिखित व्यक्ति से अभिन्न समझता है। इस शक्ति का नाम है "सधारणीकृत" शक्ति। इस शक्ति के द्वारा केवल दर्शक हो नहीं अभिनेता भी अपने को नायक से अभिन्न समझता है। मन इस प्रकार से परिचालित न होने से अभिनेता का अभिनय सर्वांग-सुन्दर नहीं होता। कोई कोई कहते हैं कि केवल नायक को ही रस की अनुभूति होती है, अन्यों को नहीं होती। यह युक्ति ठीक नहीं। मेरी राय में रचयिता, पाठक, अभिनेता, श्रोता और दर्शक, सभी रस का उपभोग करने में समर्थ हैं।

---

* The highest art is but the imitation of nature.

शोक में अभिभूत होने के भय से क्या कोई द्रौपदी के केशा-कर्षण अथवा राम के वनगमन का विवरण नहीं पढ़ता। यह बात सत्य है कि आप से आप प्रवृत्त हो कर प्रायः ही लोग दुःखानुभव करने की चेष्टा नहीं करते। परन्तु करुणादि-रस-विषयक प्रस्ताव सुनने को अथवा करुणाजनक अभिनय देखने को सब कोई प्रवृत्त होते हैं। शोक या भय-पूर्ण वास्तव घटना देखने की प्रवृत्ति थोड़े ही मनुष्यों को होती है, परन्तु काव्यांतर्गत करुणादि रस के आस्वादन से वे अपार आनंद का अनुभव करते हैं। करुणादि रस काव्य-संपर्कित न हो कर यदि केवल लोक-संश्रित हों, उनसे लौकिक शोक-हर्षादि उत्पन्न होते हैं। इन लौकिक शोक-हर्षादि को ही रस के स्थायी भाव कहते हैं। लोग अधिकांश स्थायी भावों की पुनरावृत्ति नहीं चाहते, परन्तु काव्य में उन सब भावों की पुनरावृत्ति से संपूर्ण आनन्द का अनुभव करते हैं।

लौकिक-शोक-हर्षादि की काव्यांतर्गत पुनरावृत्ति से जो आनन्द मिलता है वही रस कहलाती है। उत्तर-रामचरित में चित्र-दर्शन कर लक्ष्मण और सीताजी ने अपार आनंद अनुभव किया था। क्या इस कारण उनके लिये चित्रित सब घटनाओं की पुनरावृत्ति वांछनीय थी। जो कविताएँ हमारे सब से अधिक दुःख की स्मृति से विजड़ित हैं वे ही सब से मधुर हैं* स्थायी भाव वास्तव घटना से संबंध रखते हैं। किंतु उन घटनाओं के कवि-लेखनी-प्रसूत वर्णन का संबंध रस के साथ है। वास्तव घटना के साथ काव्योक्त-रस का संबंध गौण है। यह सच है कि शोक से

* Our sweetest songs are those that tell of saddest thought.
—Shelley's *Skylark*.

आनंद नहीं मिलता, किंतु शोक-संपृक्त करुण रस से निश्चय ही आनंद होता है। रस मात्र में ही आनंद देने की शक्ति है, इसलिये उनका नाम रस है। रस ही आनंद है।

ऐसे भी मनुष्य हैं, जो स्वेच्छा से विपत्ति या कष्ट में पड़ना चाहते हैं, और इससे सुख का अनुभव करते हैं। वीर पुरुष युद्ध में मृत्यु अवश्यंभावी जान कर भी उसमें प्रवृत्त होते हैं। उत्तर मेरु का आविष्कार करने के लिये कितने आदमियों ने अपने प्राणों का विसर्जन किया है। मौंगो पार्क, गार्डन इत्यादि भ्रमणकारी लोग आफ्रिका के भौगोलिक तत्व का आविष्कार करने के लिये कितनी ही विपत्तियों में पड़े थे। कुछ समय पहले गौरीशंकर-गिरि-शृंग के भौगोलिक तत्व के अनुसंधान में कई मनुष्यों ने अपने प्राणों को तिलांजलि दी है। ये सब परोपकार-व्रत में व्रती थे। इनके कार्यों के विवरण पढ़कर लोग स्तंभित हो जाते हैं, और शतमुख से इनके त्याग तथा साहस की प्रशंसा करते हैं। ये उत्साह के उदाहरण हैं।

अन्य एक श्रेणी के लोग हैं जो ख़ुद कष्ट वा विपत्ति में पड़ना नहीं चाहते, पर दूसरों का कष्ट या विपत्ति देखने को उत्सुक रहते हैं। कोई-कोई फाँसी देखने को जाते हैं। नीरो रोम-नगर का दाह देख कर हर्ष से गद्-गद् हो गया था। फ़राँसीसी विप्लव के समय पेरिस नगरी के असंख्य नर-नारियों की हत्या देख कर निम्न श्रेणी की जनता ने आह्लाद से नृत्य किया था। ये जुगुप्सा के उदाहरण हैं।

इन सब लोगों की मानसिक क्रियाएँ काव्यानुशीलनकारी लोगों की मानसिक क्रियाओं से भिन्न हैं। वास्तव घटनाओं की

अनुभूति तथा स्मृति से जो भाव उत्पन्न होते हैं, उनसे काव्य-रसास्वादन-जनित भावों का भेद है। तथापि काव्य का रस कृत्रिम नहीं कहा जा सकता। रस में ऐसे एक भाव की अनुभूति वर्तमान रहती है, जो वास्तव अनुभव में नहीं रहती। भावों का वास्तव अनुभव काव्य के भीतर स्पष्टता लाभ करता है, और काव्यलब्ध अनुभव भी वास्तव अनुभव से पुष्ट होता है। वसंत-ऋतु जितना श्रृंगार-रस-ज्ञाता को आनंद देती है, उतना साधारण लोगों को नहीं। रस में वास्तव अनुभव की अपेक्षा एक प्रकार की चित्त की ग्राहकता तथा रुचि का आधिक्य वर्तमान रहता है। रस स्थायी भाव अर्थात् वास्तव अनुभव की एक प्रकार की परिपक्वावस्था कहा जा सकता है। स्थायी भाव, अर्थात् वास्तव अनुभव, कच्चा माल है। रस कच्चे माल से निर्मित शिल्पजात पण्य है। संस्कृत तथा हिन्दी-रीति-ग्रंथों ने रस के नाना विभाग, भावों की नाना श्रेणी, श्रेणियों के नाना वर्ग, प्रत्येक भाव की पुंखानुपुंख आलोचना तथा विश्लेषण और उनके कार्य-कारण संबंध का निर्णय कर भावों के मनोविज्ञान ज्ञात होने में विशेष सहायता की है।

एक-एक स्थायी भाव के कई कार्य और कारण रहते हैं। कारणों को विभाव और कार्यों को अनुभाव कहते हैं। विभाव, अनुभाव और संचारी भाव रस के परिपोषक हैं जिन कारणों से स्थायी भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें विभाव (Cause) कहते हैं। विभाव के दो भेद हैं—आलंबन और उद्दीपन। जिसको अवलंबन कर अंतःकरण में सुख-दुःखादि उत्पन्न होते हैं, वह आलंबन विभाव है, और जिस विषय को देख कर सुख-दुःखादि उत्तेजित होते हैं उसे उद्दीपन-विभाव कहते हैं।

अंधे, लँगड़े, बहरे तथा आतुर व्यक्तियों को देख कर दुःख उत्पन्न होता है। अतएव अंध इत्यादि शोक के आलंबन विभाव हैं। व्याघ्रादि को देख कर भय उत्पन्न होता है। अतएव व्याघ्र इत्यादि भय के आलंबन विभाव हैं। युद्ध के समय योद्धा को अवलंबन कर प्रति-योद्धा में उत्साह का उदय होता है। अतएव योद्धा प्रति-योद्धा का आलंबन विभाव है। नायक को अवलंबन कर नायिका की, तथा नायिका को अवलंबन कर नायक की, प्रीति उत्पन्न होती है। अतएव नायक-नायिका परस्पर के अनुराग के आलंबन विभाव हैं। अंगादि की विकृति को अवलंबन कर हास उत्पन्न होता है। अतएव अंगादि की विकृति हास का आलंबन विभाव है। शत्रु को अवलंबन कर क्रोध का उदय होता है। अतएव शत्रु है क्रोध का आलंबन विभाव। दुर्गंध-मांस-मेदादि को अवलंबन कर घृणा उत्पन्न होती है। अतएव दुर्गंध-मांस-मेदादि जुगुप्सा का आलंबन विभाव हैं। पहले-पहल जो समुद्र देखता है उसके मन में आश्चर्य उत्पन्न होता है। अतएव समुद्र विस्मय का आलंबन विभाव है। जिसके मन में संसार की अनित्यता की उपलब्धि और परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान हुआ है उसे एक अनिर्वचनीय सुख प्राप्त होता है। अतएव संसार की अनित्यता का तथा परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान शम या शांति का आलंबन विभाव हैं।

उद्दीपन विभाव—चंद्र, वसंत-ऋतु, कोकिल-कूजन इत्यादि अनुराग का, विकृत हाव-भाव इत्यादि हास का, शोच्य वस्तु या व्यक्ति का दाह इत्यादि अथवा उसके कोई स्मारक चिह्न शोक का, शत्रु की चेष्टाएँ क्रोध का, जिसके प्रति कर्तव्य पालन की चेष्टा है उसकी दुर्दशा उत्साह का, कृमि इत्यादि जुगुप्सा का, लोकातीत

वस्तु की महिमा विस्मय का, और तीर्थ-दर्शन साधु-संग इत्यादि शम का उद्दीपन विभाव है।

अनुभाव—सुमधुर अंग-भंगादि-भ्रू, नेत्रादि की सुमधुर कुटिलता और कटाक्षादि अनुराग का; नयन, संकोच, वदन-विकाश इत्यादि हास का; भूमि-पतन, क्रंदन इत्यादि शोक का; रक्त-चक्षु, भ्रू-भंगी; अधर-दंशन इत्यादि क्रोध का; सहायक का अन्वेषण उत्साह का; वैवर्ण्य, रोमांच, स्वेद, कंप इत्यादि भय का; मुख-विकृति, नयन-संकोच, थूकना इत्यादि जुगुप्सा का; स्तंभ, स्वेद, रोमांच, नेत्र-विकाश, संभ्रम इत्यादि विस्मय का और पुलक, कंपन, अश्रु इत्यादि शम का अनुभाव है। संचारी भाव (Accessory ideas)—जो भाव एकमात्र स्थायी-भाव में न रह कर सब स्थायी भावों में संचरण करते हैं, वे संचारी भाव कहलाते हैं। संचारी भावों के ३३ भेद हैं।

रसों के उदाहरण देव, दास, तुलसी, सूर आदि के ग्रंथों में देखे जा सकते हैं। विस्तार भय से यहाँ उद्धृत नहीं किए गये।

परस्पर के संस्रव में सत्य का स्वरूप

सुनने में आता है कि सत्य बोलना जितना सहज है, मिथ्या बोलना उतना नहीं। यदि सत्य बोलना सहज होता, तो यह संसार कैसा सुखमय स्थान होता! किन्तु सत्य बोलना जितना सहज ख़याल किया जाता है, उतना सहज नहीं है। सत्य बोलने में तो पहले उसकी स्पष्ट धारणा होनी चाहिए, पीछे उसका ठीक-ठीक प्रकाश करने की शक्ति चाहिए—तभी सत्य की

सार्थकता है। सत्य पर पहुँचना बहुत ही कठिन है। स्केल-कंपास के द्वारा नापकर किसी स्थान का नक़शा बनाने पर भी उसमें त्रुटियाँ रह जाती हैं। सूक्ष्म गणना के द्वारा अति यत्न से ज्योतिष्कों का जो मान, दुरत्व, गति इत्यादि निरूपित होते हैं वे भी सर्वदा अभ्रान्त नहीं होते। किन्तु किसी प्राकृत वस्तु की सीमा-रेखा अंकित करने की अपेक्षा सर्वदा परिवर्तनशील मानव-मुख-मंडल की बाह्याकृति अंकित करना अधिक कठिन है। मनुष्य-जाति के परस्पर व्यवहार के भीतर हम सत्य नाम की जिस वस्तु का परिचय पाते हैं वह भी ऐसी ही अनिश्चित है, और सब समय उसे ठीक ठीक समझना भी कठिन है। तामिल-भाषा का एक वर्ण भी न जानते हुए मैंने तामिल-भाषा में लिखित मूल 'कुरल' ग्रन्थ का पाठ किया है, अथवा घर से एक पग भी न निकल कर मैंने काश्मीर देश का पर्यटन किया है, इस प्रकार की स्थूल मिथ्या बातें कहकर कोई-कोई कभी-कभी अपनी बहादुरी दिखाते हुए पाये जाते हैं।

किन्तु उनमें ऐसे भी किसी मनुष्य का मिलना असम्भव नहीं जो दूसरों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचा कर ईमानदारी के साथ अपनी जीवन यात्रा का निर्वाह कर रहा हो। फिर ऐसा भी मनुष्य पाया जा सकता है जिसने जीवन भर कभी मिथ्या न कही हो, किन्तु वह असत्य की मूर्त्ति कहा जा सकता है। ऐसे प्रतारकों ने ही इस संसार में नाना अनर्थों की सृष्टि की है, और यहाँ से प्रीति को निर्वासित किया है।

जिस मनोवृत्ति में, भाषण में, हृदयावेग में अपवित्रता, कपटता, भ्रम वा अस्पष्टता की गन्ध तक नहीं वही सत्य के नाम से परिगणित होने के योग्य है। सत्य ही प्रेम का उत्स है, और

संसार में सत्य के रहने के ही कारण मनुष्य सुख का अस्वादन करने को समर्थ होता है।

इसमें सन्देह नहीं कि मिष्ट वाक्यालाप प्रीतिवर्द्धक है, किन्तु उसमें जिन भावों का आदान-प्रदान होता है वे स्पष्ट तथा कपट-रहित न होने से उसकी सार्थकता अल्प है। साहित्य-क्षेत्र में लिखने का काम उतना कठिन नहीं, जितना भाव की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति करना कठिन है। दूसरे के मन को जिस-तिस प्रकार भुलाना ही यथेष्ट नहीं—उसके मन पर आप जिस प्रकार अधिकार करना चाहते हैं, यदि आप ठीक उसी प्रकार कर सके हों, तभी आपकी सफलता है, नहीं तो नहीं। सभी क्षेत्रों में भाव की स्पष्ट अभिव्यक्ति अत्यन्त कठिन है। यदि भाव के प्रकाशन में अस्पष्टता रह जाय तो कार्य-सिद्धि में विघ्न की यथेष्ट सम्भावना है। ख़याल कीजिए कि आप किसी मित्र को पत्र लिख रहे हैं। यदि आपके भावप्रकाशन में ज़रा भी व्यतिक्रम हो जाय तो आपका बन्धु-विच्छेद हो सकता है। भाव-प्रकाशन की ज़रा-सी त्रुटि से आप का दान-पत्र व्यर्थ हो सकता है—आपकी सम्पत्ति अपात्र वा अवांछित पात्र में न्यस्त हो सकती है।

कानून की धारायें इतनी सूक्ष्मता से रचित होने पर भी व्यवहारज्ञों के पास उनका अर्थ विभिन्न हो जाता है, और इसी कारण मुक़द्मों का फलाफल अनिश्चित होता है। यहाँ तक कि वेद व गीता की व्याख्याओं में भी मत-वैषम्य दृष्टिगत होता है। भाषा के द्वारा ठीक-ठीक भाव-प्रकाश करना बहुत कठिन है। किन्तु ऐसे भी मनुष्य पाये जाते हैं जो अपना मनोभाव अनेक परिमाणों में व्यक्त करने में समर्थ हैं।

देखा जाता है कि लिपि-कुशल वा वाक्-पटु व्यक्ति बहुत से कठिन सांसारिक कार्य आसानी से सम्पन्न कर लेते हैं। इस कला में जो जितना निपुण है वह उतना ही बिना बाधा और संकोच के दूसरों के साथ मिल सकता है, और उनके साथ घनिष्ठता स्थापित कर सकता है। फिर ऐसे भी मनुष्य हैं जिनमें यथेष्ट सरलता तथा सौजन्य रहने पर भी भाषा के दैन्य के कारण उनकी सद्‌गुण-राजि दूसरों के निकट प्रतिभात नहीं होती, और वे अन्यों के चित्त पर प्रभाव डालने में समर्थ नहीं होते। इसी कारण विभिन्न भाषा-भाषियों के भीतर सम्यक् आत्मीयता प्रतिष्ठित होने में बाधा पड़ती है। एक ही मातृभाषा-भाषियों के भीतर भी बहुधा ऐसी बाधा उपस्थित हो सकती है। हम लोगों में हर एक की भाषा स्वतन्त्र है—वे सब मातृभाषा की पृथक् पृथक् एक एक उपभाषा कही जा सकती है। कारण, देखने में आता है कि समाज के एक व्यक्ति की भाषा अति समृद्ध और यथार्थ मनोभाव-व्यञ्जक है, किन्तु दूसरे एक व्यक्ति की भाषा अति निःसम्बल है और भाव व्यक्त करने में नितान्त अपटु है। आदर्श वक्ता की भाषा में मन वा हृदय का भाव आवृत न होकर यथावत् उद्‌घाटित होता है। वह अपनी प्रत्येक भाव-धारा को उपयोगी भाषा-खात के भीतर से प्रवाहित करने को समर्थ होता है। वह खात इतना विशाल आकार धारण नहीं करता कि भाव को शीर्णकाय होकर तलदेश-मात्र का आश्रय ग्रहण करते हुए प्रवाहित होना पड़े, अथवा इतनी पूर्णता प्राप्त नहीं करता कि भाव को पथभ्रष्ट होकर जहाँ-तहाँ से बहिर्गत होना पड़े। खात ऐसी सुन्दरता से गठित होना चाहिये कि भाव बिना बाधा के समता रख कर धीर-स्थिर गति से अग्रसर हो श्रोतृ-मानस-

सरोवर में वक्ता की मनो-वाञ्छित रसः-सुधा बहा कर आनंद की लहरें उत्पन्न करें।

इसकी फलश्रुति क्या है? सुवक्ता अपनी प्रकाशन-शक्ति के कारण मित्रों के निकट अपना मनोभाव सुन्दरता से व्यक्त करने में समर्थ हो उनका प्रेम तथा श्रद्धा का अर्जन कर धन्य होता है। दूसरी ओर जिन महोदयों की स्पर्द्धा है कि वे सभाजयी वाग्मी हैं वे कृत्रिमता का आश्रय ग्रहण करते हैं—मानों यथार्थ मनोभाव को गोपन करने के लिए ही भाषा की सृष्टि हुई है। वे अप्रासङ्गिक तथा आपात-मनोहर वाक्यच्छटा के द्वारा सुननेवालों को सम्मोहित कर अपने स्वार्थ-साधन के लिए चेष्टित होते हैं। शेक्सपियर के जुलियस सीज़र नामक नाटकान्तर्गत एंटनी की वक्तृता इसी श्रेणी की है। एक श्रेणी के वागीश, सभा में किसी भी प्रसङ्ग की आलोचना क्यों न होती हो, उनको कहने को कुछ रहे चाहे न रहे, उठ खड़े होंगे, और अपने भाषण में पहले से ग्रथित ऐसी कुछ सुविन्यस्त शब्दावली तथा वाक्यावली का प्रयोग करेंगे, और साहित्य तथा शास्त्र से यत्न से सञ्चित ऐसे कुछ वचन उद्धृत करेंगे जिनका वे हज़ारों बार विभिन्न प्रसङ्गों के भाषणों में व्यवहार कर चुके हैं। क्या इस प्रकार के अपभाषण के द्वारा सत्य पर पहुँचना सम्भव है, या उपस्थित विषय की मीमांसा करने में विचार के भीतर ऐसे कुछ सूक्ष्म भावों का उद्भव हो सकता है जो अज्ञातपूर्व हों और जिनका विश्लेषण कर भाषा में सम्बद्ध कर सकने से वे साहित्य-क्षेत्र के अभिनव सम्पदों में परिगणित होने योग्य हों?

परस्पर के संसर्ग में मानव-मन में जिन भावों तथा आवेगों का उद्भव होता है, साहित्यिक उनका विश्लेषण कर भाषा के द्वारा उनको विवृत करने की चेष्टा करते आ रहे हैं। किन्तु क्या वे

सफल-काम हुए हैं ? क्या उनका प्रयास ज़्यादातर व्यर्थ नहीं हुआ ? साहित्य के द्वारा मानव हृदय के सत्य स्वरूप को सम्पूर्णतया लोक-चक्षु के सम्मुख उपस्थित करना एक प्रकार से असम्भव है, कारण ऐसे अनेक भाव वा आवेग हैं जो केवल शारीरिक क्रियाओं के द्वारा ही यथार्थ व्यक्त हो सकते हैं—भाषा के द्वारा नहीं। आँखों की चितवन में जो सब भाव छिपे रहते हैं, भाषा की क्या मजाल कि वह उन्हें परिस्फुट करे ? कंठस्वर के भिन्न-भिन्न ग्रामों के द्वारा—उसकी कोमलता वा कर्कशता, दृढ़ता वा शिथिलता, त्वरा वा मन्थरता के द्वारा—ओष्ठाधर की गति के द्वारा—गंड तथा ललाट के आकुञ्चन वा प्रसारण के द्वारा—भ्रूभङ्गि के द्वारा-जो सब भाव वा आवेग प्रकाशित होते हैं, क्या वे भाषा के द्वारा व्यक्त हो सकते हैं ? उन सब दैहिक क्रियाओं के द्वारा मानस-क्षेत्र में वा हृदय-फलक में जो सब रेखापात होते हैं वे केवल परोक्ष-रूप में अनुभूत हो सकते हैं—भाषा के द्वारा सम्यक् प्रकार से व्यक्त नहीं हो सकते। किन्तु उन सब क्रियाओं के द्वारा ही मानव-मन का सत्य स्वरूप उद्घाटित होता है—मानों आत्मा अभ्यन्तरीण कारागार से मुक्ति पाकर वहिःस्थ मानव-मनों के सामने अपनी यथार्थ मूर्ति उपस्थित करती है।

दीर्घ-निश्वास, आर्तनाद, अश्रुपात, कटाक्ष, मुखमंडल की रक्तिमा, विवर्णता वा अन्य विकृति इत्यादि ही यथार्थ सन्देश-वाहक हैं—ये बतौर वार्तावह का काम करते हैं—मुहूर्तमात्र में एक मन की सत्य अनुभूति दूसरे मन में संचालित करते हैं। ये सब दूत सत्य का अपलाप नहीं करते। किन्तु भाषा के द्वारा सत्य को परिस्फुट करना सहज-साध्य नहीं—समय तथा धैर्य सापेक्ष है। वाचनिक भाषा की शक्ति सीमाबद्ध होती है—पग-पग

पर उसके पदस्खलन की सम्भावना रहती है—वह कुछ कहते हुए कुछ कह डालती है—फल विपरीत हो जाता है। शारीरिक भाषा की क्रिया क्षिप्र होती है—मुहूर्तमात्र में वह अपना वक्तव्य कह डालती है—उसकी उक्ति में जड़ता नहीं रहती। वाचनिक भाषा की अपेक्षा वह अधिक प्रामाण्य है, कारण, हृदय के साथ उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। एक बार किसी मित्र को पत्र लिखकर मैं बहुत मुश्किल में पड़ गया था। मित्रता खो बैठनेवाला था। किन्तु थोड़े दिनों में ही मुझे उनके साथ मिलने का मौक़ा मिला। बातचीत के समय मैंने पत्र में जो कुछ लिखा था उसकी ही पुनरावृत्ति की, बल्कि और भी कठिन बातें कहीं, किन्तु कोई अप्रीतिकर परिणाम न हुआ। इस बार मेरी उक्तियों के साथ दैहिक भाव विद्यमान थे—न बोलने में संकोच हुआ न सुननेवाले में असन्तोष का परिचय मिला। इससे देखा जाता है कि वाक्य के द्वारा सब समय असल सत्य परिस्फुट नहीं होता, प्रत्युत शाब्दिक भाषा बहुधा प्रीति का अन्तराय बन जाती है।

जब सर्वेन्द्रिय-सम्पन्न व्यक्तियों में सत्य-प्रकाशन-शक्ति की इतनी दरिद्रता रहती है, तब विकलाङ्ग व्यक्तियों की तो बात ही क्या? जो लोग अंधे वा बहरे हैं, उनकी दशा कैसी दयनीय है! जो अन्धे हैं वे वक्ता की मुखाकृति लक्ष्य नहीं कर सकते, जो बहरे हैं वे कंठस्वर के विकारों का अनुभव करने को समर्थ नहीं। अतएव उनके लिए सम्पूर्ण सत्य का हृदयङ्गम करना असाध्य है। इनके अतिरिक्त इस संसार में और भी अनेक दया के पात्र हैं। उनमें से एक श्रेणी के लोगों के श्रीमुखों के बाह्य परिवर्तनों को किसी ने कभी देखा है या नहीं, यह किसी को याद नहीं आता। अतएव भाव-प्रकाशन के कुछ प्रधान सहायकों से वे वञ्चित हैं। एक श्रेणी

के लोग उच्चरित भाषा के प्रयोग में इतने मितव्ययी होते हैं कि उनके अंतःकरण की अवस्था का कोई पता नहीं चलता—उनके हृदय-मन्दिर के कपाट कभी उन्मुक्त नहीं होते—मन्दिरस्थ सत्य-देवता के दर्शनों का सौभाग्य कभी किसी को नहीं प्राप्त होता। अतएव यदि वे मानव-द्वेषी तथा सत्य के परिपन्थी कहे जायँ तो भी अत्युक्ति न होगी। उनके चरित्र का पता लगाने के लिए उनके 'हाँ-न' तथा कार्यावली के दीर्घ काल-व्यापी निरीक्षण के बिना अन्य कोई उपाय नहीं। ऐसे मनुष्यों के साथ मित्रता स्थापित करना अति आयास-साध्य है। उनकी कार्यावली में खुलासापन का सम्पूर्ण अभाव है। अतएव उनके प्रति कोई आकृष्ट नहीं हो सकता, कारण, विश्वास ही सत्य का प्रधान उपादान है? हृदय-विनिमय के बिना विश्वास उत्पन्न नहीं हो सकता। अतएव देखा जाता है कि सत्य से विश्वास उत्पन्न होता है, विश्वास से परस्पर की निर्भरता और निर्भरशीलता से समाज। सत्य की भित्ति पर ही समाज प्रतिष्ठित है। सत्यनिरोध सामाजिक स्थिति का घाती है। जो मनुष्य सत्य का गोपन वा अपलाप करता है वह समाज-द्रोही है।

बहुत से लोग कायिक योग्यता को तुच्छ समझते हैं। किन्तु मेरी सम्मति में आत्म-सम्मान, रस-बोध, सहृदयता इत्यादि मौलिक चरित्र-गुणों के ठीक पीछे ही देहज गुणावली का आसन है। सोल्लास मुखच्छबि, अनुरूप-भाव-व्यञ्जक विलोकन, शान्त सुगठित मूर्ति इत्यादि के आकर्षण को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। किन्तु जो मनुष्य कृत्रिम स्वरावली या मर्कटानुकारी मुखभङ्गी का अभ्यास करते हैं वे कैसे हतभाग्य हैं। वे अपनी जन्मलब्ध भाव-प्रकाशन-शक्ति से वञ्चित रहते हैं—वे अपने स्वजातीय-वर्ग के साथ मिलने का पथ बन्द रखते हैं—वे अपने देह-

मन्दिर-गवाक्षों को नाना-वर्णोज्ज्वल अस्वच्छ काँच-फलकों से आवृत कर रखते हैं। पथिकगण भवन की बाहरी शोभा की प्रशंसा करते हुए गुज़रते हैं ठीक, किन्तु कोई भवनाधिकारी का सन्धान नहीं पाता। दूसरी ओर गृह-स्वामी खिन्न तथा अवसन्न अवस्था में गृह के भीतर निःसंग रहकर कालातिपात करते हैं।

नीरवता के द्वारा बहुधा अति दारुण मिथ्या आचरित होती है। मौन अनेक अवस्थाओं में प्रीति का अन्तराय-सा हो जाता है। आप किसी प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर देना चाहते हैं, किन्तु अहङ्कार, आत्मसम्मान वा संकोच के कारण आप कुछ न कह सके। उस समय यदि आपके मुँह से एक भी शब्द निकलता तो अनेक अनिष्टों का निवारण होता, कितनी अप्रीतियाँ विदूरित होतीं, आप अनात्मीय को आत्मीय बना लेते। किन्तु आपने कुछ नहीं कहा, अतएव आपने मिथ्या आचरण किया। कैसा परिताप का विषय है।

अनेक अवस्थाओं में सत्य के द्वारा मिथ्या और मिथ्या के द्वारा सत्य सूचित होता है। सत्य के अंशमात्र के प्रकाश के द्वारा भी असली बात ढँक जाती है। भोजनकाल में कोई कोई लज्जा वशतः खाद्य-द्रव्य का प्रत्याख्यान करते हैं। युधिष्ठिर का 'अश्वत्थामा हतः' यह उक्ति अब प्रवाद-वाक्य में परिणत हो गई है। वास्तव जगत् में जो कुछ सत्य है, बहुधा वह हृदय-जगत में सत्य नहीं ठहरता। हृदय जिसको सत्य करके मान लेता है उसे आप विकृत रूप में नहीं ग्रहण कर सकते न उसकी उपेक्षा कर सकते हैं। माता की कटूक्ति वा भर्त्सना में जो कठोरता प्रतीयमान होती है, क्या वह उनकी स्नेह-शून्यता का परिचायक है।

जिनके साथ आपका मेल जोल है वे देवताओं के समान सर्वज्ञ

नहीं। वे आपके सदृश हैं—आपके ही सदृश मनोवृत्ति तथा हृदय-वृत्ति-सम्पन्न हैं। किन्तु प्रत्येक की कुछ विशिष्टता है। प्रत्येक की प्रकृति के अनुसार प्रत्येक के निकट सत्य को उपस्थित करना चाहिए—वास्तव तथा नग्न तथ्य के द्वारा सत्य की धारणा कराई नहीं जा सकती। मार्मिक सत्य का प्रकाश ही यथार्थ सत्यवादिता है—आन्तरिक सत्य का प्रकाश नहीं।

सत्य-प्रकाश के निमित्त दो पक्ष आवश्यक है—वक्ता तथा श्रोता। जो यह अस्वीकार करता है या तो उसमें अनुभव की कमी है, नहीं तो सत्य के प्रति उसकी आस्था कम है। आपका वक्तव्य दूसरे व्यक्ति के मन में किस प्रकार से गृहीत होता है, यह आपके लिए विशेष सोचने की बात है। आपकी बातों में यदि तिलमात्र क्रोध वा सन्देह का संस्पर्श हो तो सुननेवाले का कान उसे मालूम कर आपको अपराधी बनाने के लिए उत्सुक होगा। एक बार मनोमालिन्य उत्पन्न होने से व्यवधान क्रमशः बढ़ता ही जायगा, घटने की सम्भावना कम है।

सत्य को समझने वा समझाने के लिए वक्ता तथा श्रोता में भाव-साम्य की आवश्यकता है—परस्पर में परस्पर को समझने की शक्ति होनी चाहिए। जिनके मनोवृत्ति-समूह सम-धरातल नहीं, उनके लिए परस्पर को समझना कठिन है। अन्तरङ्ग व्यक्तियों के भीतर भाव-साम्य रहने के कारण भाव का आदान-प्रदान कुछ सहज है। एक इङ्गित वा दृष्टि ही बहुधा वाक्य-बहुल व्याख्या का काम करता है—एक मात्र 'हाँ' व 'न' ही यथेष्ट आलोक-पात करने को समर्थ है। पति-पत्नी के व्यवहार में वाचनिक भाषा प्रायः अर्ध-निर्वासित हो जाती है। परस्पर का सान्निध्य, मुखाकृति, चक्षु की दृष्टि, मस्तक संचालन इत्यादि के द्वारा, और यदि

आवश्यक होता दो-चार बातों के द्वारा, भावविनिमय कर वे परस्पर के सुख-दुःख के भागी होते हैं। प्रेम स्वभावज है और कृत्रिमता-शून्य। वाक्यों के द्वारा साधारणतः जिस परिमाण में मनोभाव व्यक्त होता है, पति-पत्नी के मनोभाव परस्पर के पास उससे अधिक परिज्ञात हैं। निर्भरशीलता ही उनके जीवन का आधार है। परस्पर के प्रति परस्पर का स्वभाव-प्रेरित विश्वास वाचनिक-प्रकाश-निरपेक्ष है। अतएव शारीरिक भाषा ही उनमें अधिक पुष्ट तथा भाव-प्रकाशक है। स्पर्शमात्र की भाषा की तुलना में वाचनिक भाषा शक्ति-सून्य है। दूसरी ओर, जहाँ प्रेम गहन है, वहाँ भावप्रकाश में अत्यन्त सावधानता का प्रयोजन है। त्रुटि के लेश मात्र का परिणाम भीषण हो सकता है। अणुमात्र सन्देह से दीर्घ काल का निबिड़ प्रेम ही अपराध का कारण बन जाता है।

जीवन में सत्य का महत्व अशेष है, और उसे व्यक्त करने में सतर्कता की आवश्यकता है।

कला—तत्त्व

कला का साधारण स्वरूप

कला हृदय की वस्तु है, मन की नहीं। वस्तु-पुञ्ज के भीतर तथ्य मिल सकते हैं, सत्य नहीं। विज्ञान के द्वारा तथ्यों का आविष्कार हो सकता है, सत्य का नहीं। केवल मनुष्य का हृदय ही सत्य जगत का पता बता सकता है, बुद्धि के द्वारा सत्य नहीं मिलता, पार्थिव अनावश्यकता के भीतर ही कला का जन्म है। कला सौन्दर्य चाहती है। यद्यपि प्रकृति में कला के उपादान हैं, तथापि जब तक वे उपादान मनुष्य ही के अन्तरस्थ सौन्दर्यानुभूति से संशोधित नहीं होते, तब तक कला के हिसाब से उनका कोई मूल्य नहीं। सौन्दर्य की अनुभूति रहती है हृदय में, वस्तु-पुञ्ज में नहीं। सबकी सौंदर्यानुभूति समान नहीं होती, किंतु शिल्पी के भीतर एक ऐसी सौंदर्यानुभूति रहती है जिसके कारण उसके मन में परिपूर्णता का एक आदर्श बना रहता है। इसी हेतु वह प्राकृत वस्तुओं को सुन्दर वा असुन्दर देखता है। शिल्पी प्राकृत वस्तुओं का अन्ध अनुकरण नहीं करता, किन्तु अपने अन्तर में अनुभूत पूर्ण-सौंदर्य के आदर्श के अनुसार प्राकृत वस्तुओं की अपूर्णताओं को सम्पूर्ण कर उनमें सौंदर्य की सृष्टि करता है। कला में कल्पना के लीला-विस्तार में व्यञ्जना की अनुभूति और व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति जितनी अधिक रहती है, उसी परिमाण में वह सफलता प्राप्त करती है।

अतएव कला की मुख्य वस्तु है सौंदर्य। यदि शिल्पी में यथार्थ सौंदर्यानुभूति विद्यमान हो तो वह वस्तु-सृष्टि के द्वारा

उसे व्यक्त करने का पथ अवश्य निकाल लेगा। सौंदर्यानुभूति ही कला का आदि, मध्य और अवसान है।

व्यापक अर्थ में कला एक विशेष चेष्टा को कहते हैं, जिसके द्वारा सौंदर्य का अनुभव तथा प्रकाश किया जाता है। इस चेष्टा में कल्पना है, कल्पना का प्रयोग है; और कल्पना के प्रयोग में आवेग है। इसमें एक अज्ञातपूर्व-विशेष वस्तु की मानसिक सृष्टि होती है, इसलिये यह कल्पनात्मक है। इसमें इस मानसिक सृष्टि को रूपदान करने का उद्यम है, इसलिए यह प्रयोगात्मक है। इसमें सुख-दुःख, अनुराग-विराग इत्यादि मिश्रित किसी एक विशेष भाव की अभिव्यक्ति रहती है, इसलिए यह रागात्मक है। इस चेष्टा में शिल्पी जिस आनंद का अनुभव करता है, वह साधारण आनंद से भिन्न है।

कला में कल्पना का बाहुल्य है। शिल्पी के कल्पना-क्षेत्र में एक ऐसी वस्तु का आविर्भाव होता है, जिसका ज्ञाता वह स्वयं होता है। ऐसी वस्तु की वास्तव सत्ता सम्भव है या नहीं, इस पर शिल्पी का ध्यान आवश्यक नहीं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि कल्पना-निष्पन्न वस्तु अवास्तव ही हो—वह ऐसी वस्तु है जिसके विषय में शिल्पी विचार नहीं करता कि वह वास्तव है या अवास्तव। काल्पनिक शब्द वास्तव शब्द का विरोध-वाचक नहीं है। कल्पना इस विषय में निरपेक्ष है।

कल्पना और चिन्ता भिन्न हैं। चिन्ता में हम वास्तव को अवास्तव से—सत्य को मिथ्या से—पृथक् करते हैं, किन्तु कल्पना में ऐसी भिन्नता के भाव का पोषण नहीं करते। अतएव ऐसा अनुमान होता है कि जब से मनुष्य में चिन्ता-शक्ति की उत्पत्ति हुई है, उसके पहले वास्तव-अवास्तव की भिन्नता पर

उसकी दृष्टि नहीं रहती थी। इससे यह प्रकट होता है कि मनुष्य में कल्पना का उदय चिन्ता का पूर्ववर्ती है न कि चिन्ता-शक्ति का उदय कल्पना का। बालकों तथा बर्बरों के मानसिक परिस्थिति के पर्यवेक्षण से अनुमान होता है कि मानव-जाति के प्राथमिक युग में ही मनुष्य को कला की प्रेरणा मिली है।

यदि कहा जाय कि मानव-मन की जितनी प्राथमिक प्रचेष्टायें हैं उनमें से कला एक है तो समझना चाहिये कि कला अपने आप उत्पन्न होती है, और अन्यान्य चेष्टाओं के बिकाश पर यह निर्भर नहीं। कला किसी विशेष अनुभूति वा धार्मिक विश्वास का रूपान्तर नहीं बल्कि धर्मान्तर्गत पौराणिक आख्यानों के उपादान कवि-कल्पना-प्रसूत निर्माणों के रूपान्तर हैं। ऋग्वेद के ऋषियों ने प्राकृतिक दृश्यों तथा शक्तियों के वर्णन में जो अद्भुत कल्पना-शक्ति दिखलाई है उसी के आधार पर वेद में ही नाना देवताओं की सृष्टि हुई और पीछे पुराण शास्त्र की विचित्र कथायें गठित हुईं। कला वास्तविक अनुभूतियों के आधार पर गठित नहीं होती। कला के पहिले वास्तव अनुभूतियाँ शिल्पी की कल्पना के अनुसार परिवर्तित और पुनर्गठित होकर एक नई वस्तु में परिणत होती हैं। तब शिल्पी विचार करने लगता है कि कल्पित वस्तु ठीक है या नहीं। अतएव कल्पना विचार का पूर्ववर्ती है।

सौंदर्यानुरागी लोग कला को चिन्ता वा विचार से श्रेष्ठतर एक अभिनव चेष्टा मानते हैं। इसका एक कारण यह है कि प्रौढ़ तथा सभ्य मनुष्य के लिए कला कठिन है। कल्पनात्मक दृष्टि का अधिकारी होने के लिए उसे बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, क्योंकि उसे एक अधिक उन्नत चेष्टा में आत्म-नियोग करना पड़ता है। इस कठिनाई का यथार्थ कारण यह है कि

विचार तथा सभ्यता के वशवर्ती होकर उसके मन की स्वाभाविक विशुद्धता नष्ट हो गई है, और उसे अब चेष्टा के द्वारा आदिम अकृत्रिमता लौटा लानी पड़ती है। कल्पनात्मक मनोभाव प्राप्त करने के लिए बालक को चेष्टा की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह तो कल्पना-क्षेत्र के भीतर ही रहता है। किन्तु शिक्षित मनुष्य को शिक्षा-लब्ध संस्कारों को हटा कर अपने आपको बालक-भावापन्न करना आवश्यक है। यह काम सहज नहीं।

बड़े बड़े कला विषयक ग्रन्थों के अध्ययन से कला के संबंध में जो धारणा उत्पन्न होती है उससे लोग इस सिद्धान्त पर उपनीत होते हैं कि कला बहुत कठिन तथा उच्च कोटि की विद्या है—उसका अनुशीलन केवल उच्च श्रेणी के लोग ही करते हैं। आलोचना करने की शक्ति केवल धुरन्धर शिल्पियों में ही होती है। छोटी बड़ी कृतियों समेत समग्र कला की तुलना यदि समग्र ज्ञान, विज्ञान इत्यादि के साथ की जाय तो साफ़ मालूम होगा कि वैज्ञानिक से शिल्पी कहीं अधिक अकृत्रिम और मौलिक सरलता सम्पन्न जीव है—चञ्चल आवेगमय जीवन के कारण शिल्पी बालक के सदृश है—वह कठिन कार्यों के सम्मुख होने में डरता है—वह शृंखला पूर्वक अपने कार्यों को नियमित नहीं कर सकता—वह साधारण कामों में अपनी बुद्धि का नियोग अच्छी तरह नहीं कर सकता, उसमें आत्मश्लाघा का चिह्न भी किसी सीमा तक पाया जाता है।

शिल्प आदिम अवस्था सूचक वस्तु है, इसलिए यह विचार नहीं करना चाहिये कि बालक और असभ्य मनुष्य के सिवा कोई शिल्पी नहीं हो सकता। सच है कि प्रौढ़ और सभ्य मनुष्यों में आदिम सरसता लुप्त हो जाती है, तथापि जिस प्रौढ़ मनुष्य में

बालसुलभ अकृत्रिमता वा जिस सभ्य मनुष्य में मानव जीवन की कल्पना-प्रवणता छूट नहीं गई है वह अवश्य शिल्पी हो सकता है।

यूनानी बर्तनों के चित्रण को वा योरप के मध्य-युग के भास्कर्य के सौन्दर्य को देख कर यदि हम अनुमान करें कि उन स्थानों के उन समयों के जीवन बहुत सुन्दर सुखमय और सुसंस्कृत थे तो हम भ्रम में पड़ेंगे। यदि उस समय के यूनानियों की प्रकृति रूखी न होती, यदि मध्य युग के योरपवासी कुसंस्काराच्छन्न न होते, तो, उनकी कृतियों में जो माधुर्य परिस्फुट हुआ वह आज कदापि दृष्टिगत न होता। उनका शिल्प उनके जीवन का अंग था और उसका चमत्कार उनके जातीय जीवन की फलश्रुति है। उनकी आपेक्षिक असम्पूर्णता के साथ उनकी उच्चाङ्ग की कला ओत-प्रोत रूप से जटित और एकीभूत थी। तो क्या उच्च कोटि के शिल्पी बनने के लिए हमें फिर असभ्य अवस्था में लौटना पड़ेगा? क्या तीव्र कल्पना का अधिकारी होने के लिए कोई फिर से बालक बनना चाहेगा? कदापि नहीं। अपनी इस उच्च सभ्यता की परिस्थिति में हमें चित्र, गान, नृत्य इत्यादि कलाओं का कौशल आविष्कार कर लेना होगा, और जिन मनुष्यों में स्वाभाविकता का उच्च आदर्श विद्यमान होगा वे हमारे पथ-प्रदर्शक होंगे।

कला कल्पना-मूलक है, किन्तु कल्पना मानसिक-क्रिया-मूलक है। कल्पना मानसिक चित्रों की परम्परा है। क्या हम मानसिक चित्रों के ऊट-पटाँग सिल-सिले को कल्पना कह सकते हैं? कदापि नहीं। कल्पना में चित्र-परम्परा को सुनियन्त्रित करने की चेष्टा रहती है। कोई भी काम हो, वह या तो सुसम्पन्न हो सकता है या कुसम्पन्न। कल्पना इस नियम के बहिर्भूत नहीं है। जिनकी

प्रतिभा वा चेष्टा में त्रुटि है उनकी कल्पनायें सदोष वा असम्पूर्ण होती हैं। ऐसे भी मनुष्य हैं जिनकी कल्पना बिना आयास के गठित हो जाती है, और ईषत् चेष्टा के प्रयोग से उनमें उच्च कोटि का चमत्कार उत्पन्न होता है।

कल्पना को सुगठित करने का तात्पर्य क्या है? इसका उत्तर है—कल्पनात्मक प्रणाली से कल्पना करना—कल्पना के लक्षण के अनुसार कल्पना करना—कल्पना में कल्पना के उद्देश को पूर्ण रखना। किन्तु कल्पना का उद्देश क्या है? कल्पना का उद्देश है सौन्दर्य की सृष्टि। अतएव सौन्दर्य की सृष्टि निरा कल्पना-मूलक है।

इससे तो यह व्यक्त होता है कि जो कुछ कल्पना-प्रसूत है वही सुन्दर है, और कला-निष्पन्न कोई वस्तु कुत्सित नहीं हो सकती। यह उक्ति तो युक्ति-विरुद्ध-सी मालूम होती है, तथापि यह परम सत्य है। कुत्सित शब्द आपेक्षिकतावाचक है। दूसरे दृश्यों वा चित्रों के साथ तुलना के द्वारा हम किसी दृश्य वा चित्र को कुत्सित कह सकते हैं। वह निरपेक्ष-कुरूपता नहीं हो सकती। कोई वस्तु सम्पूर्णतया कुत्सित नहीं कही जा सकती। हम इतना ही कह सकते हैं कि उसमें कुरूपता और सौन्दर्य का मिश्रण है और उसमें किसी क़दर सौन्दर्य रहने के कारण ही वह श्रीहीन मालूम होती है। सुन्दर और असुन्दर अंशों में उसका विभाग नहीं हो सकता, न यह कहा जा सकता है कि उसके जिन जिन अंशों में सौन्दर्य का अभाव है, वहाँ वहाँ के अभावों के पूर्ण हो जाने से उसकी कदर्यता का निराकरण हो जायगा। यथार्थ में जितनी कुरूपतायें हैं, सब में सौन्दर्य प्रच्छन्न रहता है, किन्तु किसी कारण वह मलिन वा कलुषित

हो गया है। कदर्यता असल में विकृत वा नष्ट सौन्दर्य है। उसमें नष्टता-प्राप्त सौन्दर्य की एक छाया का अनुभव होता है।

कल्पना की त्रुटि के कारण कुरूपता उत्पन्न होती है। शिल्पी का उद्देश्य है कि वह सौन्दर्य को उत्पन्न करे, किन्तु उसकी कल्पना के पक्षों में यथेष्ट शक्ति न रहने के कारण वह अपने गन्तव्य स्थान को नहीं पहुँच सकता, अथवा दो वा उनसे अधिक भिन्न -मुखी कल्पनाओं पर सवार होने के कारण वह विपथ में चला जाता है। फल यह होता है कि श्री के बदले श्रीहीनता आ जाती है।

अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि कुरूपता सौन्दर्य की विपरीत नहीं है, परन्तु उसका नीचा दर्जा है। सौन्दर्य को परिस्फुट करने के निमित्त कल्पना की जिस परिमाण में सम्पूर्णता आवश्यक है उस परिमाण से जितनी कमी रहेगी उतना ही कला-निष्पन्न वस्तु में सौन्दर्य का अभाव प्रतीयमान होगा। नीचे दर्जे का सौन्दर्य का तात्पर्य है ऐसा सौन्दर्य जिसके पर्यवेक्षण के समय शिल्पी के अल्प परिमाण के भी कल्पनात्मक उद्यम का अनुभव किया जा सकता है।

कल्पित वस्तु के विभिन्न अंशों में कल्पना की एकता वा अविरोध रहने से ही सौन्दर्य परिस्फुट होता है और एकता का अभाव रहने से कुरूपता आ जाती है। हम जिस वस्तु की कल्पना कर रहे हैं हमें कल्पना क्षेत्र में केवल उसी को स्थान देना चाहिए दूसरी किसी वस्तु को नहीं। इसी से वैषम्य के भीतर भी एकता तथा सामञ्जस्य की उपलब्धि होगी। इस प्रकार की एकता या तो संयोग-बस उत्पन्न हो सकती है या ऐसे अभ्यास का फल हो सकती है जिसके लिए किसी प्रकार के

आयास की आवश्यकता नहीं होती। कल्पना की परिचालना विचार के साथ होनी चाहिए नहीं तो वह स्वप्न है।

सुसम्बद्ध चेष्टा रहने के कारण कल्पना स्वप्न से भिन्न है। स्वप्न भी कल्पना है, परन्तु उसे सुनियमित करना असम्भव है। कला सुनियन्त्रित कल्पना की सन्तान है।

कल्पना में कल्पित वस्तु पृथक् रक्खी जाती है, किन्तु विचार में विचारणीय वस्तु उससे सम्बन्धित वस्तुओं के साथ रक्खी जाती है। कल्पना की एकता रहती है अन्तर्जगत की वस्तुओं में, किन्तु विचार की बाहरी वस्तुओं में। बाहरी वस्तुओं की तुलना के आधार पर वैज्ञानिक तथ्यों का आविष्कार होता है, किन्तु कल्पना-प्रसूत वस्तुओं का बाहरी वस्तुओं के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता—वह सम्पूर्ण रूप से आत्मनिष्ठ है। यदि दो कवि राना प्रताप के विषय में दो सुकल्पित नाटक लिखें तो वे अपने अपने कल्पना-क्षेत्र में ही आबद्ध रह कर अपने अपने नाटक का सौन्दर्य-विधान करेंगे और दोनों नाटक अपनी-अपनी सम्पूर्णता के कारण सुन्दर बन सकते हैं। किन्तु ऐतिहासिक अनुसन्धान से प्राप्त राना प्रताप के चरित के साथ मिलाने से शायद एक भी सत्य नहीं निकलेगा।

कला-निर्मित प्रत्येक वस्तु कल्पना-प्रसूत है, जो निर्माण की अवस्था में शिल्पी के कल्पना-क्षेत्र में सीमा-बद्ध रहती है।

उसकी कल्पना उसके लिए एक पृथक् जगत् है। वह जगत् अभेद्य, अच्छेद्य है। उसमें कोई छिद्र नहीं रहता, जिसके द्वारा बाहर के साथ उसका कोई संयोग हो। उस जगत् में रह कर वह विश्व-ब्रह्माण्ड को अपने निराले ढंग से देखता है और अपने जगत् के अतिरिक्त किसी दूसरे जगत् की सत्ता का अनुभव

नहीं करता। जो कुछ उसमें संगठित होता है वह उसी की उत्पादक क्रिया से उत्पन्न होता है।

कला-शिल्पी और ऐतिहासिक ये दोनों किसी कला-निष्पन्न वस्तु का विभिन्न दृष्टिकोणों से देखते हैं। जिसमें शिल्पी एक अज्ञात पूर्व-सृष्टि का अनुभव करता है, ऐतिहासिक उसमें जीवन-प्रहेलिका के समाधान के लिए अब तक जितनी चेष्टायें हो चुकी हैं उनके अतिरिक्त केवल नई चेष्टा की उपलब्धि करता है। सौन्दर्यानुभूति के उद्देश से कला-निष्पन्न वस्तु का विवेचन होता है। यदि वह कल्पना के नेत्रों से न देखी जाय तो उसकी गिनती कलाजात वस्तुओं में न होगी, उसकी गणना केवल इतिहास के उपादानों में की जायगी।

कुछ अनुभूतियाँ इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होती हैं और कुछ मन में ही उत्पन्न होती हैं। जिनका जन्म मन में होता है, साधारणतः वे सुखद वा दुःखद होती हैं। इन अनुभूतियों को भाववृत्तियाँ कहते हैं। बाह्योद्दीपना से भी भाव-वृत्तियाँ गठित होती हैं। श्रवणेन्द्रिय वा दर्शनेन्द्रिय की राह से जिन भावों की उद्दीपना मिलती है, परिमाण वा तीव्रता के अनुसार वे सुखद वा दुःखद कही जाती हैं। आलोक वा ध्वनि मृदु और कोमल होने से सुखद होती है, किन्तु अतिमात्र और तीव्र होने से दुःखद। अतएव अक्सर सुख-दुःख का उत्पत्ति-स्थान एक ही है, किन्तु उद्दीपना इत्यादि के तारतम्य से उनमें विभिन्नता आ जाती है—सीमाओं के भीतर रहने से सुख का अनुभव होता है, सीमा तक न पहुँचने से वा सीमा का अतिक्रम करने से दुःख का। भाववृत्ति तीव्र होने से वह आवेग वा राग कहलाती है।

प्रत्येक प्रचेष्टा में सुख वा दुःख सम्भव है। यदि चेष्टा सफल हो तो सुख की अनुभूति होती है, यदि विफल हो तो दुःख की। विशेष चेष्टाओं की अनुभूतियों में भिन्नता दृष्टि होती है। इसी भिन्नता के कारण आनन्द में भिन्नता अनुभूत होती है। प्राकृतिक सौन्दर्य-जनित आनन्द से कला-जनित आनन्द भिन्न है। इस भिन्नता का केवल अनुभव ही हो सकता है, किन्तु भिन्नता के कारण का विश्लेषण कठिन है। प्रत्येक चेष्टा का एक ही रागात्मक देश वा पहलू होता है, किन्तु कला में राग केन्द्रगत है। साधारण धारणा यह है कि सौन्दर्य से एक प्रकार का आनन्द मिलता है वा सौन्दर्य से एक श्रेणी के मनुष्य आनन्द पाते हैं वा सौन्दर्य आनन्द-दायक है।

सौन्दर्य ऐसा वस्तुगत गुण नहीं है जिसकी अनुभूति इन्द्रियों वा चिन्ता के द्वारा हो सकती है। वह रागात्मक अनुभूति है, जो कल्पित वस्तु से सर्वत्र परिव्याप्त है। कल्पनान्तर्गत एकत्व को कोई कोई सौन्दर्य कहते हैं यह एकता वस्तु-विषयक चिन्ता की एकता से भिन्न है। कल्पनान्तर्गत एकता कल्पना-जात वस्तु से अभिन्न है ; किन्तु चिन्तान्तर्गत एकता अन्यान्य वस्तुओं के साथ उनका सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा से लब्ध है।

चिन्ता का विषय अंशों में बँट सकता है और इन अंशों की अलग अलग परीक्षा हो सकती है, किन्तु कल्पना में समग्र विषय की परीक्षा एक साथ होती है। कल्पना-जात वस्तु अविभक्त रहती है, अंशों में विभक्त नहीं हो सकती। कला में समग्र पर ध्यान देना आवश्यक है, न कि प्रत्येक सूक्ष्म अंश पर। समग्र को छोड़ कर अंशों पर ध्यान देने से समग्र का सौन्दर्य

चूर चूर हो जाता है। समग्र की एकता पर दृष्टि रखकर अंशों का यथासम्भव सुधार हो सकता है।

सौन्दर्य की अनुभूति रागात्मक है। यह आवेग केवल सुखद ही नहीं, सुखद-दुःखद दोनों है। जिन लोगों को गम्भीर चिन्ता का अभ्यास नहीं है वे सौन्दर्य को सुखद ही समझते हैं और उसके आनन्द को साधारण आनन्द ही। किन्तु जो कल्पना वारिधि के गम्भीरतम तल तक पहुँच सकते हैं वे सौन्दर्य से केवल उच्च कोटि के आनन्द का ही नहीं, किन्तु तीव्र जाति के क्लेश का भी अनुभव करेंगे। यह क्लेश केवल कला की त्रुटियों के अनुभव के कारण नहीं होता, बल्कि सौन्दर्य के आतिशय्य से जी चकराने के कारण।

ललित-कला क्या है ?

प्राक्कथन

पहले ही मेरे मन में यह प्रश्न उठता है कि भारी-भारी विद्वानों तथा मनीषियों ने जिस विषय की आलोचना की है, उस विषय में मुझे कहने का क्या रह जाता है? आश्चर्य की बात यह है कि जो विषय यथार्थ ही कठिन है और जिसके सम्बन्ध में वादानुवाद का अंत नहीं, उस पर मेरे समान अल्प-विद्य मनुष्य भी अनाप-शनाप दो बातें कहने को पश्चात्पद नहीं? "कला के हिसाब से यह चित्र अच्छा नहीं", "फलाँ लेखक में नाम-मात्र की भी कला-विषयक अनुभूति नहीं,"—इस प्रकार की उक्तियाँ जिस-तिसके मुख से सुनी जाती है; किंतु जिनके मुख से ऐसी उक्तियाँ निकलती हैं, उनको इस विषय

का सम्यक् ज्ञान है या नहीं, इसका निश्चय नहीं। इस लेख में मैं स्वयं आप लोगों को कुछ नयी बातें सुना सकूँगा अथवा मेरी व्याख्या के आलोकपात से ललित-कला का अंधकार-कक्ष सहसा उज्ज्वल हो जायगा, इसका भरोसा मुझे नहीं है। यदि मेरी कोई युक्ति वा इंगित आप लोगों के मन में चिंतन का कुछ खाद्य पहुँचा सके, तो मैं जानूँगा कि मेरा परिश्रम सार्थक है।

मनुष्य के भीतर तीन मनुष्यों का वास

मनुष्य के भीतर तीन मनुष्य रहते हैं। उनमें से एक दैहिक क्षुधा की ताड़ना से खाद्य-संग्रह के लिए सदा व्यस्त रहता है। जगत् में टिके रहने के लिए उसकी कैसी प्राणपन चेष्टा है। प्रकृति के अक्षय भांडार से क्षुधा के लिए अन्न, तृष्णा के लिए वारि, परिधान के लिए वस्त्र का आहरण ही उसका काम है। यहाँ प्रकृति के साथ उसका सम्बन्ध सम्पूर्ण प्रयोजनमूलक है।

हमारे भीतर का दूसरा मनुष्य देह की चिन्ता में विह्वल नहीं। जब देह की क्षुधा मिट जाती है, तब वह मन की क्षुधा-निवृत्ति के लिए खाद्य-संग्रह करने को सचेष्ट होता है। जगत् की असंख्य घटनाएँ उसके मन के सामने आकर पुंजीभूत होती है। दृश्यमान प्रकृति अपनी विचित्रताओं की डाली लेकर उसके मन के द्वार को खटखटाने लगती है। वह उनके भीतर के प्रच्छन्न तथ्यों के आविष्कार के लिए अपनी बुद्धिवृत्ति को यथासंभव नियत करता है। वस्तुओं तथा घटनाओं के भीतर जो सार्वजनीन नियम काम करते हैं और जिस एकता-सूत्र से वे ग्रथित हैं, वह उनको ढूँढ़ निकालना चाहता है। यहाँ भी बहिः-प्रकृति के साथ मनुष्य का सम्बन्ध प्रयोजन के द्वारा सीमा-बद्ध है।

किंतु मानव-मन का तृतीय मनुष्य कुछ और ढंग का है। न तो वह दैहिक खाद्य चाहता है, न मानसिक। वह चाहता है कि प्रकृति-वारिधि में जो अशेष सौन्दर्य माणिक्य लुके-छिपे पड़े हैं, गोता मार कर उनका संग्रह करे। वह निखिल विश्व को हृदय के द्वारा देखना चाहता है, जैसे यह देखना ही यथार्थ देखना हो। देह तथा मन के प्रयोजनों के अतिरिक्त किसी सम्बन्ध के द्वारा विश्व के साथ आबद्ध होने से ही प्रकृति के साथ मनुष्य का प्रेम-सम्बन्ध स्थापित होता है। यही उन दोनों का यथार्थ सम्बन्ध है।

तथ्य और सत्य

मनुष्य का देह-सम्बन्धी जगत्—जहाँ किसान जोतता है, जुलाहा कपड़ा बिनता है—मनुष्य के खाद्य तथा परिधेय उपस्थित करने के लिए है। उसका मन-सम्बन्धी जगत्—जहाँ वैज्ञानिक अपने नित्य-नूतन आविष्कारों के द्वारा विश्व-रहस्य के मूल पर पहुँचने को सचेष्ट है—मनुष्य को ज्ञान का अधिकारी बनाने के लिए है। शेषोक्त जगत् सत्य-जगत् नहीं। वस्तु-पुँज के भीतर तथ्य मिल सकता है, किंतु सत्य नहीं। तथ्य और सत्य एक ही वस्तु नहीं। क्या कोई कह सकता है कि आज जो वैज्ञानिक तथ्य आविष्कृत होकर निःसंदेह गिना जाता है, वही सौ या पचास वर्ष के बाद मिथ्या प्रमाणित न होगा? पहले लोगों का विश्वास था कि सूर्य ही पृथ्वी के चारों ओर घूमता है, किन्तु गैलिलियों ने कोपर्निकस के इस मत को भ्रांत प्रमाणित कर दिया था। हम सत्य उसको नहीं कह सकते, जो केवल एक ही देश या एक ही काल में सत्य हो। सत्य देश-काल निर्विशेष से सत्य है—वह देश-काल से सीमाबद्ध नहीं होता।

ललित कला के लक्षण

मनुष्य का हृदय ही केवल सत्य-जगत् का पता बता सकता है। यहाँ मनुष्य की देह अक्षम है—चित्त पंगु है। बुद्धि के द्वारा अथवा विचार के द्वारा सत्य नहीं मिलता ; केवल अनुभूति के द्वारा वह पाया जाता है। हम जो कुछ देखते हैं, जो कुछ सुनते हैं, अर्थात् जो कुछ इंद्रियों के द्वारा ग्रहण करते हैं, उसे हृदय के साथ एकांत कर लेना ही सत्य है, सार्थक है। विज्ञान का वास है मनुष्य की बुद्धि के राज्य में, और कला का सिंहासन है हृदय के शाश्वत स्वर्ग में।

दैनंदिन अभाव के दैन्य से जहाँ मनुष्य की आत्मा संकुचित हो रहती है और प्रकृति को अपने कामों में लगाने के लिए जहाँ उसका चित्त नियत रहता है, वहाँ उसकी आत्मा शृंखलित रहती है। ललित-कला है मुक्त आत्मा के द्वारा भूमा का आस्वादन—स्वाधीन हृदय का अजस्र उच्छ्वास। जहाँ प्रकृति के साथ हमारा योग अबाध और प्रचुर है, वहाँ प्रयोजन-निरपेक्ष होकर कला हमारे हृदय की कोमल तंत्रियों में अपूर्व झंकार उत्पन्न करती है। जहाँ हमारे अंतर का मनुष्य अपने ऐश्वर्य की प्रचुरता से भरपूर रहता है, वहीं ललित-कला का प्रकाश तथा विकाश होता है। उसका जितना अंश प्रयोजनात्मक है, वह बाहर के मनुष्य के अभावों को दूर करने में व्ययित हो जाता है; जितने का प्रयोजन के साथ संबंध नहीं, वह प्रकाशन खोजता है, और व्यक्त होने की सुविधा मिलने से कला के रूप में प्रकाशित होता है।

हृदय के भीतर कला की उत्पत्ति

अतएव पार्थिव आवश्यकता के भीतर ही कला का जन्म है।

किंतु वह चाहती क्या है? वह चाहती है सौंदर्य। पर सुन्दर क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में मनीषी औस्कर वाइल्ड (Oscar Wild) ने कहा है कि "जिसके साथ हमारा कोई प्रयोजनगत सम्बन्ध नहीं, वही सुन्दर है"।* कलासृष्टि के भीतर हम वस्तु का अन्वेषण नहीं करते—हम अन्वेषण करते हैं विशिष्टता का, सौन्दर्य का, अपूर्वता का, कल्पना का। वस्तु-साधना विज्ञान की है, कला की नहीं। हम पहले ही कह चुके हैं कि बुद्धि के द्वारा कला प्राप्त नहीं होती—यदि पायी भी जाय, तो केवल हृदय के द्वारा पायी जा सकती है। जड़ बुद्धि के निकट कला की परिकल्पना आडंबर-पूर्ण तथा अवास्तविक प्रतीत हो सकती है। किंतु जो कुछ बुद्धि की दृष्टि से असत्य है, वह हृदय की दृष्टि से परम सत्य है। रवीन्द्रनाथ ने अपने "कला क्या है?" शीर्षक अँगरेज़ी लेख में कहा है कि "साधारण बुद्धि जिसे अतिशयोक्ति कहती है, वह छाती के अंदर सत्य है।"

कला और रस

तथ्य की दृष्टि से जो कुछ मिथ्या है, रस की दृष्टि से वह सार सत्य है, परम सुन्दर है। इसीलिए साहित्यदर्पण-कार ने काव्य की संज्ञा निर्दिष्ट करते हुए कहा है—"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्", अर्थात् रस ही काव्य का एक-मात्र उपजीव्य है। विद्यापति के एक पद में नयिका कहती है—प्रियतम को लाख-लाख युग तक छाती से लगाये रही, तो भी हृदय की ज्वाला

* The only beautiful things are the things that do not concern us.

शांत न हुई! क्या यह अतिशयोक्ति है?* जिसके लिए हम अपने प्राणों को निछावर कर सकते हैं, इच्छा होती है कि उसके साथ जीवन में, मरण में, युग युग तक सटे रहें। रहना संभव है या नहीं, यह विचार काव्य का नहीं—कदाचित् विज्ञान का हो। मानव-हृदय की तीव्र भावना अथवा चिरंतन आवेगों की अभि-व्यक्ति ही काव्य है। रवीन्द्रनाथ ने अपनी "भाषा तथा छंद" शीर्षक कविता की अंतिम पंक्तियों में शिल्प का स्वरूप बहुत सुंदरता से दिखाया है—

"जानता हूँ मैं उन्हे, सुनी है कीर्त्ति उनकी",
बोले बाल्मीकि, "तथापि अज्ञात है कथा समग्र,
घटनाएँ सब उनकी। रचूँ इतिहास कैसे?
होऊँ सत्यभ्रष्ट यदि, होता है त्रास मन में।"
हँसकर कहा नारद ने, "वही सत्य जो तुम रचोगे;
सत्य नहीं, जो कुछ घटे है। मन-भूमि, हे कवि, तुम्हारी
अधिक सत्य है अवध से, जो धाम है श्रीराम का।"

वस्तुओं के बाहरी और भीतरी रूप

मनुष्य का बाहरी रूप ही आँखों से देखा जाता है। यदि उसका भीतरी रूप देखना हो, तो अंतर से देखना चाहिए। क्या हमारा बाहरी प्रकाश सर्वदा हमारे मनो-भावों का अनुरूप है? माता संतान पर विरक्त होकर उसको डाँटती और कटु वाक्य कहती है; क्या इस कटूक्ति को सुनकर समझना चाहिए कि संतान के लिए माता के हृदय-भांड़ में जो अशेष अमृत संचित है, माता की वह पीयूषधारा शुष्क हो गयी है?

* जनम अवधि हम रूप निहारलूँ। नयन न तिरपित भेल॥
लाख-लाख युग हिये-हिये राखलूँ। तबहुँ जुड़न न गेल॥—विद्यापति

बाहर का काठिन्य देखकर यदि माता के स्नेह का परिमाण लगाया जाय, तो मातृ-हृदय के संबंध में हम बहुत अविचार करेंगे। अतएव देखा जाता है कि घटनाएँ समय-समय पर सत्य नहीं होतीं। आँखों से देखी बातों में भूल होने की संभावना अधिक रहती है।

कला और वस्तु

वस्तु-जगत् और कला-जगत् भिन्न-भिन्न है। जिसे हमने रस का मनुष्य बताया है, वह वस्तुओं के अंतस्तल में प्रविष्ट होकर सत्य तथा अनंत के स्वरूप का अधिकारी होता है। वह अपनी दृष्टि की असीमता के आवेग से चंचल होकर संचित वस्तुओं की प्रचुरता से अविराम सृष्टि करता जाता है। अतएव असीमता के मानदंड से कला का विचार होता है। शिल्पी की दृष्टि में वस्तु-पुंज, घटनापुंज माया-मात्र है। सत्य-सुंदर के प्रकाश से ही उसके शिल्प का मूल्य निरूपित होता है। मोपासाँ ने अपने "पियर ए जाँ" की भूमिका में लिखा है—

"वस्तु को बाहरी पदार्थ समझना बालोचित है; क्योंकि हम अपनी चिंताओं तथा इन्द्रियों के भीतर ही उसे लिये फिरते हैं। हमारी दर्शनेन्द्रिय, हमारी घ्राणेंद्रिय, हमारी श्रवणेंद्रिय, हमारी आस्वादन की शक्ति, इनमें से प्रत्येक भिन्न-भिन्न मनुष्यों में भिन्न-भिन्न है। इस कारण पृथिवी पर जितने मनुष्य हैं, उतने प्रकार से सत्य की प्रतीति होती है। प्रत्येक का मन इंद्रिय-जनित अनुभूतियों का विश्लेषण तथा विचार कर सत्यों पर उपनीत होता है। सत्य की अभिव्यक्ति ही कला है।"

कला की पूर्णता

यद्यपि प्रकृति में कला के उपादान हैं, तथापि जब तक ये

उपादान मनुष्य की अंतरस्थ पूर्णता के आदर्श से संशोधित नहीं होते, तबतक कला के लिहाज़ से उनका कोई मूल्य नहीं। पूर्णता बाहर नहीं रहती, वह रहती है शिल्पी के अंतर में। पूर्णता का अर्थ है पूर्ण सौंदर्य। प्रकृति के भीतर जो सौंदर्य है, उसका बड़ा अंश मन के द्वारा आरोपित है। फूल सुंदर है, पर्वत महान है, नृत्यपरा कलभाषिणी नटिनी मनोहारिणी है—क्या इन सौंदर्यों का अधिकांश ही कल्पना के रंगों से रंजित नहीं? उद्भिद्विद् एक फूल में जिस रूप को देखता है—उसके दल, गर्भकेशर, परागकेशर आदि का विश्लेषण कर, उसकी जन्म-पत्री बना जिस आनंद का अनुभव करता है, उस रूप तथा आनंद से कलाविद् फूल के वस्तु-रूप के प्रति अधिक सचेतन नहीं होता—वह देखता है उस रूप को, जो उसके अंतर में सुंदर के रभस-स्पर्श को, जीवन की चरितार्थता को ढो लाता है।

सौंदर्य

यदि सौंदर्य वस्तुपुंज में ही संपूर्ण निहित रहता, तो उसकी मूर्ति सबके पास एक-सी प्रतिभात होती। परंतु ऐसा नहीं होता। जिस मनुष्य के सौंदर्य को देखकर सब लोग प्रशंसा में मुखर होते हैं, उसीको देखकर मेरे मन में विराग क्यों पुंजीभूत होता है? जगत् की आँखों में जो कुत्सित है, वही फिर मेरी हृदयवीणा की तंत्रियों में आनंद का अरणन क्यों लाता है? इसी से समझा जाता है कि शिल्पी के भीतर एक ऐसी सौंदर्यानुभूति रहती है, जिसके कारण उसके मन में परिपूर्णता का एक आदर्श बना रहता है। इसी कारण वह प्राकृत वस्तुओं को सुंदर अथवा असुंदर देखता है। लोग कहते हैं कि अमुक

वस्तु दूसरी वस्तु से अधिक सुंदर है। यदि एक अंतर्निहित आदर्श न रहता तो ऐसा विचार कैसे संभव होता ?

कला और अनुकरण

यदि शिल्पी के मन में परिपूर्णता का एक चित्र विद्यमान है, तो हम कैसे कह सकते हैं कि कला प्रकृति का अनुकरण है ? अनुकरण से ही यदि कला की सृष्टियाँ बनतीं, तो कैमेरा के द्वारा ही चित्र-शिल्प का काम चलता, शिल्पी की आवश्यकता न होती। गिटे ने कहा है कि "कला इसलिए कला कहलाती है कि वह प्रकृति नहीं", * अर्थात् कला प्रकृति का संपूर्ण प्रतिरूप नहीं है। ग्रीक दार्शनिक अफ़लातून ने कहा है—"किसी जीवित मनुष्य के साथ कला-निष्पन्न मनुष्य की तुलना करने से देखा जायगा कि जीवित मनुष्य अपेक्षाकृत विचार से श्रीहीन है ; क्योंकि प्रकृति से कला पूर्णतर है।" प्रकृति के भीतर जो असामंजस्य या असंपूर्णता है, शिल्पी अपने हृदय की पूर्णता के द्वारा उसे संपूर्ण कर लेता है।" "वीनस दे मिलो" प्राचीन ग्रीक भास्कर्य का सुंदरतम उदाहरण स्वीकृत होता है। उस विख्यात मूर्ति की नाप के साथ अनेक प्रसिद्ध सुंदरियों के अंगप्रत्यंग की नाप की तुलना की जाती है। किंतु देखा गया है कि उस मूर्त्ति की नाप के साथ किसी सुंदरी की नाप नहीं मिलती।

"निसर्ग-चित्र (Landscape painting) वास्तव नहीं,—" ऐसी आपत्ति बहुत लोग करते हैं। किंतु यह आक्षेप निरर्थक है। प्राकृतिक दृश्यों के भीतर जो असामंजस्य या अपूर्णता है, ललित-कला उसका समर्थन कभी नहीं करती। प्राकृतिक

*Art is called Art because it is not nature.

चित्र तभी सुंदर तथा सार्थक होता है, जब कला-धुरंधर रूप की तुलिका से उसकी मूर्ति अंकित करता है। आतप-चित्र से वस्तु के बाहरी रूप का प्रकाश होता है; किंतु यथार्थ रूप तभी परिस्फुट होता है, जब भावुक शिल्पी उस पर तुलिकापात करता है। नेपोलियन दिग्विजयी वीर और अलौकिक प्रतिभाशाली पुरुष था। आतप-चित्र की कृपा से हमें उसकी अश्वारूढ़ मूर्ति के देखने का सुयोग अनेक बार मिला है, किंतु उससे हमारा अंतर नहीं भरा। इसका हेतु यह है कि आलोक-चित्र से उसकी आकृति-विषयक हमारी जो धारणा बनी है, वह यथार्थ नेपोलियन से पृथक् है। मनस्वी कार्लाइल ने ठीक ही कहा है—"बहुधा किसी व्यक्ति की एक प्रतिकृति उसके संबंध में लिखित इतिहास से भी अधिक शिक्षाप्रद होती है। अथवा वह प्रतिकृति एक ज्वलंत दीप-शिखा के समान है, जिसके आलोक से उस व्यक्ति के जीवन का इतिहास अंधकार में भी पढ़ा जा सकता है। आतप-चित्र मनुष्य के बहिरंग की छवि है। केवल कला ही उसके सत्य-स्वरूप को व्यक्त कर सकती है।

कला की सार्थकता

प्रकृति के बाहरी रूप को यथावत् सामने धर देना ही कला नहीं। अंतर में उपलब्ध सत्य की सहायता से प्रकृति की यथार्थ व्याख्या ही कला है। शिल्पी अंध अनुकरण छोड़कर विषय-वस्तु के भीतर कल्प-सृष्टि की जो छंद-सुषमा संचरित करता है, उसी से कला का जन्म होता है। कवि के अंतर में प्रकृति प्रेरणा की अग्नि उद्दीप्त करती है।

यह ठीक है; किंतु उसकी निर्जीव मूर्ति में अविनाशी प्राण-

शक्ति का स्पंदन लाता है केवल कवि। "स्ट्रॉर्म पेट्रल सी"—नामक गान यदि झटिका-क्षुब्ध सागर-लहरियों की अनुकृति-मात्र होती, तो वह कला के पर्याय-भुक्त कभी न होती। कला अनैसर्गिक निसर्ग-शोभा के रुद्र भाव को परिस्फुट कर सकती है, इसीलिए उसकी कलात्मक सार्थकता है। रुद्र के जिस तांडव-छंद से शिल्पी का हृदय आंदोलित हुआ था, उसमें उसीका आभास मिलता है, इसलिए वह हमारे निकट सत्य हो गया है।

सौसादृश्य

सौसादृश्य के मानदंड से कला का विचार नहीं होता। इसी हेतु आलोक-चित्र कला के अंतर्गत नहीं लिया जाता। आतप-यंत्र यदि एकही प्रकार के हों और रासायनिक उपकरणों की यदि समता रहे, तो दस यंत्रों के द्वारा प्राप्त दस आलोक-चित्र ठीक एक ही प्रकार के बनेंगे। किंतु दस शिल्पियों के द्वारा अंकित चित्र दस प्रकार के अवश्य होंगे। फ्रेडरिक-वाट्स कहते हैं कि "चित्रकार भावों को अंकित करता है, वस्तुओं को नहीं।" गिदो-रेनी के अंकित नारी चित्रों को देखकर किसी धनी मनुष्य ने जानना चाहा था कि उनके आदर्श कहाँ हैं? गिदो ने कहा था कि मैंने एक कुत्सित नारी को सामने रख कर 'मैगदलीन' की एक मूर्ति अंकित की थी, जो सुंदर मानी जाती है।" आदर्श जो कुछ हो, उससे लाभ-हानि नहीं; क्योंकि भाव तो शिल्पी के हृदय में रहता है। अवनींद्रनाथ ठाकुर कहते हैं कि "जगत् में हमें जो वस्तुएँ देखने को मिलती हैं, उनमें से किसी की ठीक नक़ल करना संभव नहीं। यदि संभव भी हो, तो वह अनुकरण शिल्पी के नैपुण्य का आदर्श नहीं कहा जा सकता। वस्तु के आकार तथा

वर्ण का अनुकरण करना किसी क़दर सहज है; किंतु आकार तथा वर्ण-विशिष्ट प्रति रूप को हम शिल्प नहीं कह सकते। प्रत्येक रूप किसी भाव के साथ मिश्रित है। उसी का आभास अथवा प्रत्यक्ष प्रकाश ही शिल्प का प्रधान अंग है। एक फूल को अंकित करना तभी सार्थक है, जब शिल्पी अपने चित्रित फूल में स्वाभाविक फूल के भाव-माधुर्य का इंगित कर सके।"

कला में वास्तवता

एम्० ज़ोला-प्रमुख साहित्य-शिल्पीगण कला में स्वाभाविकता (Naturalism) और वास्तविकता के पक्षपाती हैं। वे कहते हैं कि वस्तु को यथावत् अंकित करने में ही शिल्प की सार्थकता है। उनके मत में कला समाज का दर्पण है। साहित्य के भीतर समाज का यथातथ्य चित्र प्रतिफलित करना, लेखकों का आवश्यक कर्तव्य है। किंतु यह मत ठहरने योग्य नहीं। एक दिन योरप में वास्तविकता इतनी वेग-विशिष्ट हुई थी कि साहित्यिक-मात्र ही मनुष्य की नाना दुर्बलताओं तथा असंयम के चित्रों को उच्च साहित्य के अंग समझते थे। अभी तक यह हवा संपूर्णतः प्रशमित नहीं हुई। ज़ोला के 'नाना', में बलज़क के 'डोल स्टोरीज़' में मोपासाँ की कुछ छोटी गल्पों में और 'वलामे' आदि उपन्यासों के भीतर वास्तवता के नाम से अनेक उच्छृंखलता के चित्रों ने उच्च कोटि के कथा-साहित्य के नाम से अभिहीत होकर तालियाँ पायी थीं।

कला और नीति

कला और नीति के संबंध के विचार में प्रवृत्त होने के पहले पूर्वोल्लिखित 'स्वाभाविकता' शब्द के तात्पर्य का विचार अप्रासंगिक न होगा। 'स्वाभाविक' से यदि शिक्षा-दीक्षा-संस्कृति-

वर्जित प्रकृति-लब्ध संस्कार समझा जाय, तो उससे अनुप्राणित सृष्टि कदापि चिरंतन तथा चिर-नवीन नहीं हो सकती। जिन पुस्तकों को एक बार पढ़ने के बाद दूसरी बार पढ़ने की इच्छा नहीं होती, जिन गीतों को एक बार सुनने के बाद फिर से सुनने की प्रवृत्ति नहीं होती, वे कभी उच्च शिल्प की गणना में नहीं आ सकते।

दूसरी ओर देखिये, यदि 'स्वाभाविकता' का अर्थ प्रकृति-निहित बाह्य वस्तु-समूह हो, तो अवश्य कहना पड़ेगा कि इस वस्तु-समष्टि का आलेख्य कभी शिल्प नहीं हो सकता। कारण, हमारे द्वार पर प्रकृति-देवी जो अर्घ्य वहन कर लाती हैं, हम उसे केवल लौटा देते हैं। शेक्सपियर ने वन्य तरुओं के अंतर में, प्रवाहमयी तटिनी के हृदय में, स्थितिशील प्रस्तर-खंडों के अंतराल में जिन उपदेशों का संकेत पाया था, उन्हें उसने अपनी प्रतिभा के बल से प्राप्त किया-था, न कि प्रकृति-देवी ने उसके कानों में जिस मंत्र का गुंजन किया था, उससे। अतएव जो कुछ स्वाभाविक कहा जाता है, वह भी व्यक्ति-विशेष के आवेग तथा कल्पना से रंजित है।

कला और कल्पना

जो कुछ हमारे निकटवर्ती है उसके, अर्थात् जिस काल में हम विद्यमान हैं, उस काल के समाज के किसी विषय का अवलंबन कर साहित्य गढ़ते हुए, हमें उसके भीतर कल्पना के लीला-विस्तार की ठीक सुविधा नहीं मिलती। जो कुछ दूरस्थ है, वही मधुर जान पड़ता है। हमारा स्वभाव ही ऐसा है कि निकटस्थ बड़ी वस्तुएँ भी हमें छोटी मालूम होती हैं, और अतीत की कितनी ही क्षुद्र तथा तुच्छ वस्तुएँ कल्पना-रथारूढ़ होकर

उपस्थित होने से बड़ी प्रतिभात होती हैं। हम जिस बंशीध्वनि को कानों से सुन रहे हैं, वह कितनी ही मधुर क्यों न हो सुदूर अतीत की उस बाँसुरी के स्वरों के सदृश पीयूष-वर्षिणी नहीं होती जिनसे वृन्दारण्य-विहारी ने गोपीजनों का मनोहरण किया था *। इसी हेतु कीट्स् ने गाया है—"श्रुत सुस्वर लहरी मधुर है, किंतु जो ध्वनियाँ अश्रुत हैं, वे और भी मधुर हैं।" † कल्पना तथा कहानी के मिश्रण से रोमान्स (Romance) गठित होता है। कला में वास्तवता का प्रवेश और रोमान्स में मृत्यु-दूत का प्रवेश दोनों बराबर हैं।

इटलीवासी बेनेदेत्तो क्रोचे (Benedetto Croce) जो आज-कल के प्रसिद्ध समालोचक हैं, कहते हैं कि जो कुछ दृश्यमान् है, वह सब अवास्तव है, क्योंकि सत्ता है देखने वाले में, वस्तु में नहीं। यदि वस्तु में सत्ता रहती है, तो वह हर घड़ी बदलती क्यों रहती है ? जो फूल आज सौंदर्य का आलय माना जाता है, वह कल सूखकर हतश्री हो जाता है। कवि की कल्पना ही 'असार असत् को स्थिति तथा नाम देती है।" ‡

जो छवि आँखों से नहीं देखी जाती, जो चित्र रूप-दक्ष के निभृत चित्र-फलक में—रूपानुराग के भीतर—रहता है, उसी की

* जब हरि मुरली नाद प्रकास्यो।
जंगम जड़, थावर चर कीन्हें, पाहन जलज विकास्यो ॥१॥
जबही बन मुरली स्रवन परी।
चकित भई गोपकन्या सब धाम काम विसरी ॥२॥

—सूरदास

† Heard melodies are sweet but those unheard are sweeter.

‡ Gives to airy nothings a local habitation and a name.

अभिव्यक्ति काव्य में, आलेख्य में, संगीत में और ललित-कला के नाना विभागों में है। प्रकृति उन शिल्प-जात पदार्थों के लिए कच्चा माल (Raw Material) अर्थात् उपादान उपस्थित करती है, परंतु नकशा (Plan) रहता है रूपकार के हृदय में। मर्मर-प्रस्तर से ताजमहल बनाया गया था, इस कारण यदि वह प्रस्तरराशि किसी दिन कह बैठे कि हम ही कला हैं, तो कैसा अनर्थ होगा! यथार्थ में नक़शा भी कला नहीं, उपादान भी कला नहीं। उपादानों की सहायता से भावादर्श की अभिव्यक्ति ही कला है। इसकी प्रकाशन-भंगी शिल्प को अशिल्प से पृथक् करती है। पेटर कहते हैं—"कविता है अंतरस्थ अनुभूति के साथ भाषा का सूक्ष्म सामंजस्य, रूप है वस्तुओं का वसन; क्योंकि शिल्प के परिच्छद के द्वारा ही उनकी प्राकृतिक नग्नता दूर होती है—उनकी रमणीयता तथा मधुरता सौ गुना बढ़ जाती है। इसीलिए कवि की फुलवारी में जो फूल खिलता है, उसके वितान में जो विहंग गाता है—उसकी जो अनिर्वचनीयता है, वह प्रकृति के भांडार में नहीं।"

कला में शैली

कला-निष्पन्न वस्तुओं के विशेष विशेष ढंगों को शैली (Style) कहते हैं, जैसे ग्रीक, गॉथिक, सैरसेन शैलियों की इमारतें और जायसी, तुलसीदास और सूरदास की शैलियों की कविताएँ।

ऑस्कर वाइल्ड कहते हैं कि "शैली ही कला का विशेषत्व या खासियत है। केवल उपादान और आदर्श के एकत्र सन्निवेश से कला की सृष्टि नहीं होती। जब प्रकाशन के भीतर शिल्पी का अंतरस्थ कल्प-स्वप्न ओतप्रोत रूप में व्यक्त होता है, तभी

कला का उद्भव होता है। भाव-प्रकाश की इसी अपूर्व भंगी का नाम शैली है।"

कला की विश्वजनीनता और शाश्वतता

कला विश्व जनीन, शाश्वत और व्यंजना-प्रधान है। वह सत्य सुंदर का प्रकाश हो—मानव मन के प्राथमिक वृत्ति-निचय की द्योतना हो—तभी वह सब देशों, सब कालों में समादृत होने योग्य है। उसके शिल्प मूल्य की ह्रास-वृद्धि का विचार देश-काल-निरपेक्ष है। पृथ्वी के बड़े-बड़े रूप-दक्षों की रचनाओं में यह विश्वजनीनता पायी जाती है। इसी कारण शेक्सपियर का 'ओथेलो', कालिदास की 'शकुंतला', गिटे का 'फ़ाउस्ट', विक्टर ह्युगो का 'ला-मिज़ेरेब्ल', रवीन्द्रनाथ की अनेक कविताएँ सर्वजन-स्वीकृत हैं!

ललित-कलाओं का श्रेणी-विभाग

ललित-कलाएँ प्रधानतः दो भागों में विभक्त की जाती हैं:—(१) गतिशील (Dynamic), जिसमें नृत्यकला, नाट्यकला, संगीत और काव्य हैं; और (२) स्थितिशील (Static) जिसमें स्थापत्य-कला, भास्कर्यकला और चित्र-कला हैं।

मनुष्य का जीवन अनंत-गतिशील है—उसके प्रवाह का विराम नहीं। इस सुख-दुःख-समाकुल चिर-चंचल जीवन की दुरूह जय-चेष्टा का चलच्चित्र जिस शिल्प के भीतर प्रदर्शित होता है, उसी को गतिशील आख्या दी जाती है। गतिशीलता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण नृत्यकला है। इसमें अंग-प्रत्यंग का संपूर्ण संचलन होता है, और प्रकृत गतियों का अनुकरण भी शिल्पी के अंतर्निहित पूर्ण सौंदर्य के आदर्श से शोधित होता है। नाट्यकला

भी सचेष्ट कला है। इसका अभिनेता मन में अपने-आपको नाट्यवर्णित पात्र से अभिन्न समझकर उसके कार्यों को यथावत् दिखाता है। संगीतकला में भी यथेष्ट सचेष्टता है। मृदंग, वीणा, सितार, हारमोनियम आदि के वादन में हस्त की त्वरित वा विलंबित गति रहती है। वाङ्मय संगीत में स्वर-यंत्र तथा वाग्यंत्र का संचलन होता है, प्रयोग-काल में विशेष-विशेष दैहिक संचलनों को कलाविद् अपने मन में दुहराता जाता है, अथवा यों कहिए कि मानसिक आवृत्ति पहले होती है, पीछे उसकी बाहरी क्रिया। इस नीरव आवृत्ति के कारण मस्तिष्क में स्नायविक क्रियाएँ होती हैं। अतएव संगीत भी गति-शील कला है।

स्थितिशील शिल्प बराबर एक स्थान पर स्थिर रहता है। वास्तुकला संपूर्ण स्थिति शील है। भास्कर्य तथा चित्र कला में कभी-कभी संचलन का संकेत रहने पर भी प्रतिकृतियाँ एक ही भाव में आपन्न रहती हैं। किसी चित्र में प्रेमिक-प्रेमिका को देख कर कीट्स् ने चित्रस्थ प्रेमिका से कहा था—'हे निर्भीक प्रेमिक, अभिलषित वस्तु के अति सन्निकट पहुँचते हुए भी तुम कभी उसका चुंबन नहीं कर सकोगे। तुम तो इस सौभाग्य से वंचित रहोगे; किंतु वह कभी म्लान नहीं हो सकती। तुम प्रेम दिखाते ही रहोगे और उसका सौंदर्य बना ही रहेगा।* इसका तात्पर्य यह है कि चित्र-लिपि में जहाँ जो वस्तु दिखाई गई है, वहाँ से वह एक पग भी नहीं हट सकती। वह सुंदरी जो

---

* Bold lover never canst thou kiss,
Though winning near the goal.
He cannot fade though thou hast not thy bliss.
For ever will thou love and She be Fair.

मिलने की आकांक्षा से व्याकुल होकर अपने प्रेमास्पद को देख रही है, उसके लिए अपने वल्लभ का प्रेम-चुंबन दुर्लभ है। किंतु एक हिसाब से जीवित मनुष्यों पर उन दोनों की जीत है। जीवित अवस्था में प्रेम की तृप्ति असंभव नहीं, किंतु उसका स्थायित्व बहुत अल्प है। कारण, जीव-देह जरा-मरण के अधीन है। जिन चित्र-मूर्तियों का उल्लेख हो रहा है, उनका क्षय तो है नहीं, उनके लावण्य की तो ह्रास-वृद्धि है नहीं। अतएव उनका प्रेम अविनाशी तथा चिर-सुंदर है। स्थितिशील शिल्प गति का सौंदर्य नहीं दिखा सकता, किंतु काव्य गति की व्याख्या से चमत्कार उत्पन्न कर सकता है। इसलिए इस विषय में चित्र और संगीत से काव्य की श्रेष्ठता है। चलित सौंदर्य का एक अपूर्व चित्र बंगीय कवि चंडीदास ने पाठकों के चित्त पर चिर-मुद्रित कर दिया है। (श्याम कहते हैं) जमुना में स्नान के अनंतर श्रीराधिका अपनी गीली "नीली साड़ी को निचोड़ती क्या है, वह तो साड़ी के साथ मेरे प्राणों को मरोड़ती जा रही है।" नीलवसना सुंदरी के प्रत्येक पाद-क्षेप में वासना के कमल खिलते जा रहे हैं।

रचना-काल में काव्य मूक है। नीरव आवृति के समय भी उसकी गति दृष्ट नहीं होती। ध्वनियुक्त आवृति के समय वागयंत्र की क्रियाएँ होती हैं। मौखिक आवृत्ति तथा लिखित रचना के समय रचित छंदोमय वाक्यों की एक मानसिक आवृत्ति होती जाती है, जिससे मस्तिष्क में गतियाँ उत्पन्न होती हैं। उच्चरित कविता अथवा गायन का कोई स्थायित्व नहीं, उच्चरित होने के साथ ही उसका लोप हो जाता है। उनको स्थायित्व देने के लिए स्मृति ही पहले एक मात्र सहायक थी।

लिपि के आविष्कार के बाद से उनको वास्तविक रूप मिला है, जिसे मुद्रणयंत्र ने अक्षय तथा व्यापक कर दिया है। ग्रामोफ़ोन की करामात से उसकी उच्चरित ध्वनियाँ भी सुरक्षित रह सकती हैं। कलाओं की आपेक्षिक श्रेष्ठता की भी आलोचना बहुतों ने की है। बहुतों ने वास्तुकला को सर्व निम्न स्थान दिया है। सर्वोच्च स्थान का अधिकारी कौन है, इस विषय में मतभेद है। कोई-कोई संगीत के और कोई-कोई काव्य के पक्षपाती हैं। इस विषय में कोई अलंघनीय सीमा निर्दिष्ट नहीं हो सकती। प्रत्येक कला की कुछ कृतियाँ अपने ढंग की निराली हैं। स्थपति-विद्या भी उपेक्षणीय नहीं।

मानव-जीवन क्षण-स्थायी है, किंतु उस क्षणभंगुर जीवन की आशा-आकांक्षा, अनुराग-विराग, प्रेम-भक्ति इत्यादि उपादानों से जो शिल्प निर्मित होता है, वह अविनाशी है। शाहजहाँ आज जीवित नहीं; किंतु प्रियावियोग-विरह से विमथित चित्त के दीर्घ-निःश्वास को जिस मर्मर-विरचित ताज के भीतर वह रख गये हैं, उसकी मृत्यु नहीं। जभी ताज के समीप जाने का सौभाग्य होता है, तभी हम केवल उसके सौंदर्य से आकृष्ट नहीं होते; किंतु वह हमारे मन के कानों में किस सुदूर अतीत के प्रिया-विरहित प्रेमिक सम्राट् का मर्मतुंद विलाप वहन कर लाता है *?—उस सम्राट् का जिन्होंने राजैश्वर्य की अपेक्षा अपने प्रेम को अधिक उच्च आसन दिया था, उन्हीं की बातें बारम्बार हमारे मन में उदित होती हैं, और वर्तमान के भीतर हम अतीत की द्राक्षा-मदिरा पान कर विह्वल हो जाते हैं। रवीन्द्रनाथ ने

---

* इसीलिए ध्वनिकार ने कहा है—काव्यस्यात्मा ध्वनिः" अर्थात व्यंजना।

कहा है कि ताज स्थिर रहते हुए भी चंचल है—वह मानों परलोकगत प्रियतम के साथ राजाधिराज शाहजहां के वाणी-विनिमय का, यक्ष के मेघ के समान, दूत है—वह मानो संगीत-धर्मी है। ताजमहल के संबंध में शिल्पी हावेल ने कहा है—"वह भारतीय नारीजाति के लावण्य के उद्देश्य में भारत का अर्घ है–प्राची का 'वीनस दे मिलो' है।"

वाल्टर पेटर ने किसी स्थान पर कहा है—"कला का आदर्श है संगीत। जिस परिमाण में कला संगीत को लक्ष्य कर अग्रसर होती है, अर्थात् संगीत के सदृश वस्तु-मात्र की उपेक्षा कर संगीत-धर्म से अनुसिक्त होती है, उसी परिमाण में वह सफल होती है।"

ताजमहल में संगीत-धर्म विद्यमान है, और उस हिसाब से उसका शिल्प-मूल्य असामान्य है। कीट्स् ने अपनी "ग्रीशन अर्न"—नामक कविता में इस भाव का इंगित किया है—"मानव-जीवन नश्वर है, कला सुंदर तथा अविनश्वर है, जिसका विनाश नहीं। जो चिरंतन है वही सत्य है; अतएव कला चिरंतरन, सत्य और सुंदर है। सत्य और सुंदर पृथक् नहीं–वे एक ही वस्तु की दो विभिन्न हृदयों में प्रतिभात मूर्तियाँ हैं। सत्य-संधायी के पास जो कुछ सत्य है, रूप-दक्ष की आँखों में वही सुंदर है।

प्रत्येक स्थपति-शिल्प के दो देश अथवा पहलू हैं–एक ससीम, दूसरा असीम। उसका प्रयोजनात्मक देश ससीम है, और उसका सौंदर्यात्मक देश असीम। शेषोक्त दशा में वह असीम के भीतर मुक्त है। रौद्रवर्षा में वह हमारा आश्रय होता है, किंतु ध्यानलोक में वह आनंद का नंदन-कानन है—सौंदर्य

का सुर-धाम है। मौरिस (Moris) के मत से भाव के साथ प्रयोजन के अङ्गाङ्गी मिलन में ही कला की चरम अभिव्यक्ति है। किंतु पेटर का मत ही समीचीन मालूम होता है। इस कारण स्थपति-शिल्पांतर्गत ताजमहल को देखकर प्रयोजनीयता का भाव मन में उदित नहीं होता। उसकी गठन-सुषमा के अनिंद्य विकाश के कारण—उसकी व्यंजना की महनीयता के कारण—वह एकाएक हमारे हृदय पर अधिकार कर लेता है।

संगीत-कला की श्रेष्ठता

पेटर की नाई रवीन्द्रनाथ ने भी कलाओं में संगीत को ही शीर्ष-स्थान दिया है। उनके मत से "असीम जहाँ सीमा-हीनता में अदृश्य हो जाता है, वहीं संगीत है। असीम जहाँ सीमा के भीतर रहता है, वहीं चित्र है। चित्र है रूप-राज्य की कला, और संगीत अरूप-राज्य की। कविता, जो उभयचर है; चित्र के भीतर फिरती और गान के भीतर उड़ती है, क्योंकि कविता का उपकरण है भाषा। भाषा में एक ओर अर्थ है, और दूसरी ओर स्वर। अर्थ की शक्ति से गठित होती है छवि, और स्वर के योग से होता है गान।" उन्होंने और एक स्थान में कहा है—"कथा सुस्पष्ट है और प्रयोजन के द्वारा आबद्ध है: गान अस्पष्ट है और सीमा-हीनता की व्याकुलता से उत्कंठित है। इसीलिए कथा का मनुष्य मनुष्य-लोक का है, और गान का मनुष्य विश्व-प्रकृति का।"

कंठ-संगीत के दो अंग हैं--एक ध्वन्यात्मक, दूसरा शब्दात्मक। प्रायः देखा जाता है कि जब हम किसी चित्र के दोष-गुणों का विवेचन करने बैठते हैं, तभी हम उससे संबंध रखनेवाले किसी

आँख-देखे वास्तविक दृश्य के आधार पर उसका मूल्य निर्धारित करते हैं। किंतु संगीत के विषय में हम ऐसा नहीं करते। इसका हेतु कदाचित् यह है कि ध्वन्यात्मक संगीत किसी वास्तविक पदार्थ के आधार पर निर्मित नहीं होता। जब संगीत की पहली सृष्टि हुई थी, तब कदाचित् प्राकृतिक ध्वनियों के अनुकरण से उसका जन्म हुआ था। कुछ समय के बाद स्वरों के साथ भाव-सूचक शब्द संयुक्त हुए थे। इसके अनंतर संगीतज्ञों ने क्रमशः संगीत को अपने-अपने भावों से प्रभावित कर उसमें सौंदर्य की सृष्टि की थी, जिससे राग रागिनियों का उद्भव हुआ था। पीछे संगीत-विशारद-गण पूर्व-निर्मित स्वरों में अपने-अपने भावों को सन्निविष्ट कर ताल, मान, लय के द्वारा उसकी उन्नति करते आये हैं और ध्रुपद, ख्याल, ठप्पा इत्यादि शैलियों की सृष्टि होकर संगीत एक विज्ञान में परिणत हो गया है। इस लेख में संगीत के वैज्ञानिक अंश से हमारा कुछ संबंध नहीं। स्वर के द्वारा और स्वर-संयुक्त शब्दों के द्वारा जिन सौंदर्यों की सृष्टि होती है, वे ही हमारे आलोच्य हैं।

कला में असीम की आरती

रस्किन ने कहा है "कला के भीतर जो कुछ महान् है, वह असीम की आरती है"। अथवा रवीन्द्रनाथ की भाषा में—"जाने के पहले मेरी प्रार्थना है कि मैं यह बात जना के जा सकूँ कि जो कुछ मैंने देखा है, जो कुछ मैंने पाया है, उसकी तुलना नहीं। इस विश्व-सृष्टि के भीतर जो शतदल-पद्म विराजमान है, उसी का मधुपान कर मैं धन्य हुआ हूँ।" "हे भगवान्, हे विश्व-शिल्पी, तुम्हारी विचित्र रचना के भीतर जब जो वस्तु मुझे अच्छी लगी है, उसी से मेरा चित्त भर गया है। तुम्हारे प्रकाश के साथ

मेरे हृदय का जो प्रेम-संबंध है, वह मेरे हृदयाकाश में इंद्र-धनुष के सप्त-वर्ण से रंजित होकर खिल पड़ा है। कोकिल के कूजन से, कमल की गंध से, जो आनंद मेरे हृदयकुंज में नंदित हुआ है—हे अनंत, प्रार्थना है कि जीवन के अंत में वही वंदना तुम्हारे चरणारविन्द पर पहुँचा सकूँ। जो अर्थ तथा भाषा के अतीत हैं, उनके समीप कुछ निवेदन करने के लिए ऐसा कुछ चाहिए, जो भाषा तथा अर्थ के अतीत हो। मनुष्य-लोक में स्वर के अतिरिक्त ऐसा क्या है, जो आनंद की प्रेरणा से परम सुंदर के चरणों का स्पर्श कर सके ?" इसी कारण ललित-कलाओं में संगीत का आसन सर्वोच्च है। "जो परमात्मा अंधकारमय वास्तव" जगत् के भीतर से असीम सौंदर्यमय जगत् के रूप में अपने-आपको प्रकाशित कर रहे हैं, कला में हमारे भीतर का मनुष्य उन्हीं को अपनी कृतज्ञता भेजता है।"

कला क्या नहीं

कला क्या है, यह देखा जा चुका है। अब देखना चाहिए कि वह क्या नहीं है। इस बात की आलोचना करते हुए हम इस लेख का उपसंहार करेंगे। प्रयोजन के साथ कला का तिल-मात्र संबंध नहीं। यह बात पुनः-पुनः कही गयी है। बेनेदेत्तो क्रोचे कहते हैं कि आनंद के साथ भी कला का संबंध नहीं, क्योंकि शिल्प की रचनाएँ हमें आनंद दे सकती हैं या नहीं, यह प्रश्न अवांतर है।" कला को वह एक "गीतिकाव्यात्मक सहजात ज्ञान (Lyrical institution) समझते हैं। अच्छा लगना न लगना मनुष्य की मनोवृत्तियों पर अवलंबित है। इसलिये रुचि सहजात नहीं; क्योंकि मनोवृत्तियाँ आवेष्टन के प्रभाव से गठित होती हैं। अतएव कारणों से जो कार्य सिद्ध होते हैं वे सहज-ज्ञान-मूलक

नहीं, और कला के उपजीव्य नहीं हो सकते" यह मत हमें अधिक समीचीन नहीं मालूम होता ; क्योंकि आनंद भी यदि कला-राज्य से निर्वासित हो जाय, तो समझ में नहीं आता कि केवल सहज-ज्ञान का क्या तात्पर्य है ? क्रोचे ने अपने मत के समर्थन के लिए तर्क का आश्रय लिया है। आनंद यदि कला का उपजीव्य नहीं, तो कला का उद्देश्य क्या है ? पशु-पक्षी के सहजात ज्ञान से मनुष्य का सहजात ज्ञान भिन्न है। पशु-पक्षी सहजात ज्ञान से दूसरे ज्ञानों को नहीं पहुँच सकते। किंतु मनुष्य की यह शक्ति है। रुचि-भेद को स्वीकार करने से भी यह बात स्वीकृत है कि कलानिष्पन्न कुछ ऐसी वस्तुएँ पाई जाती हैं जो देश, काल, पात्र से संबंध नहीं रखतीं और जिनका सौंदर्य सर्वजनस्वीकृत है।

कला में व्यक्तित्व

कला व्यक्ति-गत भावों का प्रकाश है, यह तो हम कही चुके हैं। समस्त संबंधों को विच्छिन्न कर किसी वस्तु को समग्रता के भाव से देखना संभव नहीं। संबंध की विच्छिन्नता से व्यापकता का ह्रास हो जाता है। तथापि व्यापकता के हिसाब से जितनी हानि होती है, तीव्रता के हिसाब से उसको कहीं अधिक लाभ होता है। रवीन्द्रनाथ की "उर्वशी"—नामक कविता में नारी-सौंदर्य का संबंध-विरहित रूप ही दिखाया गया है। इसमें संदेह नहीं कि प्रतिरूप (Image) के हिसाब से वह कविता जिस परिमाण में अनवद्य उल्लास-मंडित है, रस के हिसाब से वह उसी परिमाण में अनाविल-सौंदर्य-खंडित है। प्रतिरूप (Image) हमें विस्मित करता है, किंतु स्पंदित नहीं करता। इस कारण उस कविता की एक ओर जैसी असाधारण सुंदरता है, दूसरी ओर वैसी ही असामान्य व्यर्थता है।

जो लोग परमात्मा को निर्गुण मानते हैं, वे उन्हें संबंध-विच्छिन्न देखते हैं। इससे परमात्मा की धारणा बहुत कठिन हो जाती है। सगुण ईश्वर की धारणा संबंधयुक्त है, इसलिए उतना कठिन नहीं। सूफी ईश्वर का व्यक्तित्व स्वीकार कर, उनके साथ प्रेमिक-प्रेमिका का संबंध स्थापित करते हैं। वैष्णव भी ऐसा ही करते हैं, किंतु वे ईश्वर की मूर्ति की कल्पना कर संबंध को अधिक घनिष्ठ कर लेते हैं। वैष्णव-कवियों ने श्रीकृष्ण को सत्य, शिव और सुंदर का आदर्श बनाया है।

कला का एक महत्व-पूर्ण अंग है व्यक्तित्व। फूलों के सौरभ-से भरपूर पवन हमारे अंग-अंग में पुलक की सृष्टि करता है। यदि समय-समय पर फूलों की कुछ नई बातें सुनने को न रहतीं—यदि केवल एक ही बात बराबर गूँजती रहती—तो विश्व के भीतर जो सौंदर्य की विचित्रता और आनंद की असीमता है, वह क्षुण्ण हो जाती। शेली और वर्ड्सवर्थ के 'स्काई लार्क' एक ही पदार्थ नहीं। प्रत्येक ने अपनी-अपनी अनुभूतियाँ और कल्पनाएँ अपने-अपने ढंग से व्यक्त की हैं। इस व्यक्तिगत रसानुभूति की अभिव्यक्ति ही कला है। इसलिये प्रत्येक कवि भी अलग-अलग रसानुरंजित जगत् का रहने वाला है। भाव को एक ही रूप देने से उसका शेष नहीं होता। वह अन्य रूपों में भी व्यक्त हो सकता है। विभिन्न कवियों के पास एक ही विषय विभिन्न रूप धारण करता है। विद्यापति ने नायिका की आँखों को कितने प्रकार की उपमाओं द्वारा व्यक्त किया है—

१—नीरे निरंजन लोचन राता।
सिंदुरे मंडित जनु पंकज पाता॥

२—चंचल लोचन वंक निहारनि, अंजन शोभा ताय।
जनु इंदीवर पवने ठेलल, अलि भरे उलटाय॥

३—लोचन जन थिर भृंग आकार।
मधु मातल किये उड़ई न पार॥

सूरदास ने नंदकिशोर के चक्षुओं की वर्णना में किस प्रकार की उपमाओं का प्रयोग किया है ज़रा देखिये—

भृकुटी विकट नैन अति चंचल, यह छवि पर उपमा एक धावत।
धनुष देखि खंजन बिबि डरपत, नहीं सकत उठिबे अकुलावत॥

२—बने विशाल हरि लोचन लोल।
चितै चितै हरि चारु विलोकनि माँगत है मन ओल॥

३—चपल चितवनि मनोहरि राजति भ्रुवभंग।
धनुष बान डारिके बस होत कोटि अनंग॥

४-देखि हरिजू के नयननि की छबि।
इहै जानि दुख मानि मनहु अंबुज सेवत जल में नित रबि॥

कवियों का देखना संपूर्णतः विभिन्न तथा व्यक्तिगत होने पर भी, क्या इनमें कोई केंद्रगत एकता नहीं? यदि एकता नहीं, तो एक मनुष्य की रचना पढ़कर दूसरा क्यों प्रसन्न होता है?—एक मनुष्य का गाना दूसरे मनुष्य के कानों में सुधावर्षण क्यों करता है?

वैषम्य के भीतर साम्य की सृष्टि से ही शिल्प का यथार्थ परिचय मिलता है। वैचित्र के भीतर केंद्रगत एकता की वाणी ही काव्य में, गान में, स्थापत्य में, चित्र में प्राचीन काल से व्यक्त होती आयी है। मनीषीवर्गों ने कहा है कि "व्यक्तिगत रुचि ही हमारे और हमारे चैतन्य के बीच एक रहस्यमय यवनिका अथवा पर्दा है, जिसके भीतर से स्पष्टता से कुछ देखा नहीं जा

सकता। किंतु शिल्पी की दृष्टि इस यवनिका को भेद कर बहुत कुछ देख सकती है। यह प्रयोजनरूपी पर्दा है। संसार में आकर मनुष्य जीवन-रक्षा की चिंता में व्यस्त रहता है। इसी हेतु वस्तु-जगत् के जितने अंश से उसका दैहिक प्रयोजन सिद्ध होता है, उतने ही से वह संबंध रखता है। उसके लिये रस का द्वार रुद्ध रहता है। किंतु शिल्पी प्रयोजन को प्रयोजन-मात्र समझता है, सर्वस्व नहीं। शिल्पी प्रयोजन के अतिरिक्त अंश का दर्शन पाकर धन्य होता है। इसी कारण वह अमरत्व का अधिकारी होता है। जीव-लोक का मनुष्य सांत है, रस-लोक का मनुष्य अनंत। अनंत सौंदर्य की व्यक्तिगत अनुभूति ही कला का धर्म है। कला के आवेग अकृत्रिम हैं, और अकृत्रिमता के ही कारण सहज में ही वे एक हृदय से दूसरे में संचरित होते हैं। अतएव एक मनुष्य की सौंदर्य-दृष्टि से दूसरा मनुष्य आनंद का अनुभव करता है।

कला में इतना अधिक व्यक्तित्व रहने के ही कारण वह हमें आनंद दे सकती है। जहाँ संबंध नहीं, वहाँ आवेग की तीव्रता कहाँ? यह स्मरण रखना चाहिये कि व्यक्तित्व और विशेषत्व एक बात नहीं। क्रोचे ने कला को "अनुभवों का चिंतन" कहा है। कवि-हृदय की अनुभूतियों का वैशिष्ट्य कवि के निजस्व होने पर भी सहज में ही अन्य हृदयों में संचरित हो सकते हैं। नाना विचित्रता तथा वैषम्य के भीतर भी प्रकृति का एक स्पर्श समग्र जगत् को नाते में आबद्ध करता है*। अतएव कवि की अनुभूति ही विश्व की अनुभूति हो जाती है। किंतु क्षुद्र आनंद से कला का पेट नहीं भरता। वह कहती है—"नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखम्।"

* One touch of nature makes the whole world kin.

कला में नीति

अंत की बात यह है कि कला नीति नहीं। नीति के भाव प्रविष्ट होने से कला के आनंद तथा रस घट जाते हैं। सहज नीति-उपदेश भी कभी हृदयग्राही नहीं होते। सुतरां साहित्य तथा शिल्प के भीतर यदि नीति तथा उद्देश्य प्रच्छन्न रूप में रक्खे जायँ, तो अच्छा। नीति-प्रचार के द्वारा जैसे कला का आनंद क्षीण हो जाता है, दुर्नीति प्रचार के द्वारा भी शिल्प की पवित्रता तथा श्लीलता नष्ट हो जाती है। अतएव भली व बुरी किसी प्रकार की नीति का प्रचार न करना ही कला के लिये निरापद है ; क्योंकि आजकल ऐसा मत भी प्रचालित होते देखा जाता है कि "किसी पुस्तक के संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि वह सुलिखित है वा कुलिखित ; उसके भीतर नीति या दुर्नीति है अथवा नहीं यह विचार साहित्य के लिये अनावश्यक है *।" †

नीरव-कवि

जो लोग श्रुति-सुखद छन्दों में शब्दों को शब्दों के साथ गूँथकर वाक्यों की छटा के द्वारा अन्यों को मोहित करने की चेष्टा करते हैं, वे साधारण लोगों में कवि का सम्मान प्राप्त करते हैं।

---

* A book can not be moral or immoral it is either badly written or well.

† इस लेख के उपादान-संग्रह में और सुललित शब्द-प्रयोग में मेरे मझले पुत्र श्रीविनायक सान्याल ने, जो अंगरेज़ी और बंगला साहित्य के डबल एम्० ए० हैं और कृष्णनगर गवर्नमेंट कालेज में प्रोफेसर हैं, मेरी बड़ी सहायता की है।

ऐसे कवियों तथा काव्यों का परीक्षा-स्थान है कर्ण। ऐसी कविताओं के पढ़ने के समय ताल, अर्थात् विशेष प्रकार से विन्यस्त निर्दिष्टसंख्यक मात्राओं के पुनः पुनः आविर्भाव, पर ध्यान रहने के कारण पढ़ने या सुनने वाले के मस्तिष्क में एक प्रीतिकर बोध उत्पन्न होता है, और शरीर में अज्ञातसार अनुरूप स्पन्दन सा अनुभूत होता है (१) संस्कृत, अरबी, फारसी, हिन्दी, बंगला, इत्यादि। प्राचीन तथा नवीन भाषाओं में ऐसी कविताएँ प्रचुर संख्या में पायी जाती हैं (२)। भाट, चारण, मागध नाम से प्रसिद्ध गाथाकारों के अधिकांश इसी

---

(१) इन्द्र जिमि जंभ पर, बाड़व सुअंभ पर,
रावन सदंभ पर, रघुकुल राज है।
पौन बारिबाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाह पर, राम-द्विजराज है॥
दावा द्रुमदुंड पर, चीता मृगझुंड पर,
भूषन वितुंड पर, जैसे मृगराज है।
तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ-बंस पर सेर सिवराज है॥—भूषण

(२) कूलन मैं कछारन मैं कुंजन मैं,
क्यारिन मैं कलिन कलिन किलकंत है॥
कहै पदमाकर परागन मैं पानहू मैं,
पानन मैं पीक मैं पलासन पगंत है।
द्वार मैं दिसान मैं दुनी मैं देस देसन मैं,
देखो दीप दीपन मैं दीपत दिगंत है।
बीथिन मैं ब्रज मैं नवेलिन मैं बेलिन मैं,
बनन मैं बागन मैं बगरो बसंत है॥—पद्माकर

श्रेणी के कवि हैं (१)। इन्हें हम शाब्दिक कवि कह सकते हैं, क्योंकि शब्द-विन्यास की चातुरी के अतिरिक्त इनके पदों में है क्या? यदि कुछ है भी, तो वह स्वादग्राही पाठकों वा श्रोताओं का प्रीतिकर नहीं होता।

दूसरे एक श्रेणी के कवि हैं जो समझते हैं कि अपनी रचना में केवल तीक्ष्ण बुद्धि का परिचय देने से ही वह उच्च कोटि की कहलावेगी।

सहृदय रसज्ञ मनुष्य काव्यान्वेषण करते हुए इससे कुछ अधिक की आकांक्षा पोषण करते हैं। वे केवल छन्दों की परिपाटी से, सुललित शब्दों के विन्यास से, अथवा मानसिक शक्ति की प्रखरता से मुग्ध नहीं होते। जिन वाक्यों ने श्रुतिपथ से प्रविष्ट होकर क्षणिक आनन्द वा चमत्कार उत्पन्न किया है, वे हृदय तक पहुँचते हैं कि नहीं, यही उनका पहला विचार रहता है। उनकी गणना में जिस वाक्य से अन्तःकरण का अन्तर्निहित कोई रस उछल नहीं पड़ता, सौन्दर्य की कोई नवीन छवि मानस-नेत्र के सम्मुख उपस्थित नहीं होती, हृदय-तन्त्री से एक नूतन तान निनादित नहीं होती, अथवा भाव की बाढ़ में आत्मा प्लावित नहीं

---

(१) गही तेग चहुवान हिंदवान रानं,
गजं जूथ परि कोप केहरि समानं।
करे रुंड मुंडं करी कुंभ फारे,
बरं सूर सामंत हुकी गर्ज मारे।
करी चीह चिक्कार करि कलप भग्गे,
मदं तंजियं लाज उमंग मग्गे।
दौरे गजं अंध चौहान केरो,
करीयं गिरद्दं चिहौ चक्क फेरी।—चन्द बरदाई

होती, वह काव्य नहीं है। इंगलैंड के अधिकांश कवि ही छन्दो-विन्यास-नैपुण्य में शेक्सपीयर के शिक्षागुरु बन सकते हैं—अनेक बालिकाओं की कविताएँ भी कविकुल-शिरोमणि के कविता-निचय की अपेक्षा श्रुतिमधुर हैं। जयदेव के गीत-गोविंद का जैसा पद लालित्य है, अभिज्ञान-शकुन्तला वा उत्तर-चरित के आदि, अन्त, मध्य के कहीं भी वैसा कुछ लक्षित नहीं होता।

नैषध के प्रगल्भ पद विन्यास के निकट रत्नावली की सरल, तरल, मधुर रचना उपेक्षित हो सकती है। तथापि सुरुचि-सम्पन्न विचक्षण मनुष्य शेक्सपीयर, कालिदास तथा भवभूति को प्राणों से पूजा करते हैं, और नैषध की नर्तन-शील छन्दों के कविता-पुञ्ज को हटाकर सौन्दर्य के जो कमनीय आलेख्य रत्नावली का कवि अङ्कित कर गया है, उन्हें पिपासु प्राणों से पुनः पुनः निरीक्षण करते रहते हैं। कारण, शब्द-ग्रन्थन के द्वारा वैचित्र प्रदर्शन करना वा कविता में मानसिक ऐश्वर्य दिखाना (१) भाषा को लेकर खेल करना मात्र है। भाव ही काव्य के प्राण हैं। रूप के साथ आभूषण का जो सम्बन्ध है, सौन्दर्यमय हृदयग्राही भाव के साथ शब्दगत माधुर्य का वही सम्बन्ध है। अतएव काव्य की परीक्षा में शब्द और भाव में यथेष्ट अन्तर रखना चाहिये।

जो सब मनुष्य चिन्ताशील तथा मनस्वी नाम से जगत् में

---

(१) क—पत्रा हीं तिथि पाइयै वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्यौई रहै आनन ओप-उजास॥—विहारी
ख—कविकुल ही के श्रीफलन उर अभिलाष समाज।
तिथि ही को क्षय होत है रामचन्द्र के राज॥—केशव

सम्मानित हुए हैं, उनके विचार में काव्य का आदर्श कहीं ऊँचा है। कविता के नाम से जो कुछ लिखा गया वही काव्य है, और जिसने लिखा वही कवि है, ऐसी उक्तियों को वे स्वीकार नहीं करते। उनके मन में वर्ण-विन्यास-युक्त चित्र में काव्य की आभामात्र प्राप्त हो सकती है, किन्तु यथार्थ काव्य एक अनिर्वचनीय अमृत है। मनुष्य की अपूर्ण तथा अपवित्र भाषा उन्हें धारण व वहन करने को साधारणतः समर्थ नहीं होती। जिसका हृदय जितने समय के लिये उस प्रकार के काव्य का विलास-क्षेत्र होता है, वह उतने समय के लिये ही हिमाचल के अविचलित स्थैर्य की नाईं, आकाश के अनन्त विस्तार की नाईं, योगरत तापस की समाधि की नाईं नीरव तथा निस्तब्ध रहता है। वह केवल हृदय में ही उस स्वर्गीय सुधा-सिन्धु की कणिका मात्र पान कर कृतार्थ होता है—लौकिक वाक्य तथा लोक-व्यवहृत वर्णमाला के द्वारा अपनी अनुभूति को नहीं व्यक्त कर सकता। लोग स्वप्नावस्था में जैसे दौड़ना चाहते हैं, पर किसी प्रकार से दौड़ नहीं सकते, बोलने के लिये जैसे व्याकुल होते हैं, किंतु कोई बात ही अधरों से स्फुरित होते अनुभव नहीं करते, वह भी उसी दशा को प्राप्त कर स्तम्भित स्थिति में अवस्थान करता है। प्रकाश करने की जितनी चेष्टाएँ सब विफल हो जाती हैं—प्रकाश करने की प्रवृत्ति तक लुप्त हो जाती है।

किसी तत्व के अन्तरतम स्थल में प्रवेश करना जिनका असाध्य है, उनके लिये मेरे कथन को लघु मानना तथा हँसकर उड़ा देना असम्भव नहीं। वे सोच सकते हैं कि कुछ भी मुँह से न निकाल कर या कुछ भी न लिखकर यदि कवि की अलौकिक सम्पद् प्राप्त हो जाय, तो इसकी अपेक्षा अधिक सौभाग्य क्या हो

सकता है ? इच्छा होते ही वे ध्यानस्थ होके कवि के देवासन पर बैठ गये, और उसी क्षण वीणापाणि मूर्तिमती होकर उनके सम्मुख उपस्थित हुईं, प्रकृति ने अपने प्रियतम निकेतन का गुह्य द्वार उद्घाटित कर दिया और संसार ने काव्य-कुञ्ज की कमनीय मूर्ति धारण की। इसके समान सुलभ सुख कहाँ है ? किंतु प्रश्न यह है कि कवित्व का ऐसा आवेश वा अनुप्रेरणा मनुष्य के इच्छाधीन है या नहीं, और इच्छा सब के भाग्य में सब समय उत्पन्न हो सकती है या नहीं ? इस विषय में गम्भीर चिन्ता आवश्यक है। कुछ सुललित शब्दों के संयोग से कुछ लिख डालना, कुछ श्रुति-हारी वाक्यों के द्वारा मस्तिष्क का व्यायाम-कौशल प्रदर्शन करके लोगों का चित्त-विनोदन करना अनेकों की शक्ति के भीतर है। किंतु स्वेच्छा से कब कौन अपने हृदय को अपने आप द्रवीभूत करने को समर्थ हुआ है ? स्वेच्छा से कौन कहाँ विश्वव्यापी सौंदर्योपभोग करने का अधिकारी वा विश्व-प्रेम का प्रेमिक हो सकता है ? इच्छा चालित कर सकती है बुद्धि को, कुछ परिमाण में उत्तेजित कर सकती है मन को, किंतु वह बेकाम है प्रतिभा के उत्पादन में। प्रकृति का मूल-प्रस्रवन इच्छा का अगम्य स्थान है।

चन्द्रमा मृदु मृदु हँस रहा है, तटिनी मृदु तरङ्ग-नाद से अपने दुखड़े की गीत गा रही है, वृक्ष-शाखाएँ मृदु सञ्चलन से अटवी का प्रेमाह्वान प्रकट कर रही हैं—ऐसे सहस्र बार के जूठे वाक्यों का प्रयोग अभ्यास-वस हर कोई कर सकता है। किंतु चन्द्रमा जब हँसता रहता है, तब इस संसार के कितने हृदय उसके साथ साथ प्रकृति के उस सुशीतल स्पर्श से निविड़ आनंद के उच्छ्वास में आकर उत्फुल्ल होते हैं ? कल-नादिनी तरंगिणी के तट पर उपविष्ट होकर, उसके अनतिस्फुट दुःख की रागिणी के साथ अपने दुःख

का गीत मिला देने को कौन समर्थ होता है ? तरुलता के सञ्चलन को इतरजन-भोग्य पाशवभोग-सुख का इंगित न मान कर कौन उसे अपनी संतान को गोद में लेने के लिये जगन्माता का आह्वान समझ कर आत्म-विह्वल होता है ?

हर्ष, दुःख, क्रोध, प्रीति प्रभृति भाव-निचय का भाषा चिर दिन ही गाढ़ता की मात्रा के अनुसार भिन्न भिन्न मूर्तियां धारण करती है। जो हर्ष. जो दुःख, जो क्रोध अथवा जो प्रीति नितान्त तरल होती है, वह सहज ही में निकल पड़ती है। भाव जैसा तरल है, भाषा भी वैसी तरल होती है। मनुष्य का मन अल्प हर्ष से सफरी के सदृश चञ्चल होता है, अल्प आनंद से अधीर हो पड़ता है और उसका हास्योच्छ्वास निवृत्त होना ही नहीं चाहता। लघु दुःख अश्रुजल के मोचन से ही निःशेषित हो जाता है। थोड़ा क्रोध भ्रूकुञ्चन तथा तर्जन-गर्जन में ही व्ययित हो जाता है। अल्प प्रीति अल्पजला स्रोतस्वती के समान केवल खलबलाती रहती है। किन्तु जो हर्ष शरीर के रोम रोम में अमृतरस के सदृश सञ्चरण करता है, जो दुःख गरल-खण्ड के समान हृदय के मर्मस्थल में लग्न रहता है, जो क्रोध चित्त को तुषानलवत् अहर्निश दहन करता रहता है, जो प्रीति आत्मा को आनंद तथा निरानंद के अधिकार के बाहर ले जाती है, वह कदापि दृश्य वा श्रव्य भाषा में सम्यक् परिस्फुट नहीं हो सकती।

कविता की भाषा भी इस नियम के अधीन है। लघु कवि की जितनी सम्पद है, वह शब्दों में ही पर्यवसित होती है। उच्चतर कवि की शब्द-सम्पत्ति का क्षेत्र अपेक्षा कृत सीमित होने पर भी रसगाम्भीर्य में वह अधिक समृद्ध है। किंतु जब किसी के हृदय में काव्य का अनिर्वचनीय अमृत-स्रोत अति प्रबलता से

प्रवाहित होता है, जब कल्पना के इन्द्रजालिक पंखों पर उड़ता हुआ तारकाओं के ज्वलदक्षरों में लिखित प्रकृति के रहस्यों को पढ़ने लगता है, और गिरिशृङ्ग तथा सागर-गर्भ में, आलोक तथा अन्धकार में सर्वत्र एक साथ विचरण करता है, जब आत्मा तत्वों की प्रत्यक्ष अनुभूति में अपने आपको खो बैठती है और बुद्धि अनुसन्धान से निवृत्त हो के क्षणकाल के लिये सागर के साथ, तरंगों के विलय की भाँति अंतर में ही विलीन हो जाती है, तब भय-विह्वला भाषा जड़ सी हो जाती है—उसकी भाव-प्रकाशिका शक्ति जाती रहती है। उस समय उसके लिये प्रकृति नीरव है, काव्य नीरव है—तब कवि भी नीरव तथा स्पन्दनहीन है। भाव-लहरी नीरवता में उत्थित होती है, नीरव रहकर लीला करती है, और नीरवता में ही विलीन हो जाती है। मुग्धा बाला जैसे दर्पण में अकस्मात् अपने प्रतिबिम्ब को देखकर चकित होती है और उस पर एकटक दृष्टि लगाये रहती है, जोह्नमयी रजनी जैसे अपने सुख से आप हँसती है, वनान्त वायु जैसे अपने दुःख से आप रोती है, कवि भी तब अपने भावों से आप परिपूर्ण हो के जीवन्मृत की नाईं अपने में आप निमज्जित रहता है। किसके निकट क्या कहा जायगा, सुनकर कौन क्या कहेगा, कौन प्रशंसा करेगा, कौन निन्दा करेगा, कौन उसकी बातों से मुग्ध होगा, कौन उदासीन रहेगा, इत्यादि चिन्ताएँ उसके उस समय के सुख-सौन्दर्यमय हृदय-जगत् में स्थान नहीं पातीं। मान, अपमान, सम्पद, विपद, प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष, जीवन, मृत्यु सब ही उसके निकट उच्चतम शैल-शिखर-समासीन योगी के निकट मानव-समाज के विविध क्षुद्र कोलाहल के समान अति निम्नस्थ तथा दूरस्थ प्रतीयमान होते हैं। संसार है कि नहीं यह भी तब उसका

बोधगम्य नहीं रहता। उसका अपना अस्तित्व भी तब मुहूर्त के लिये इस विश्व-व्यापी सौन्दर्य-सागर में विलुप्त हो जाता है। इसी को योग-शास्त्र में असम्प्रज्ञान वा निर्विकल्प समाधि कहते हैं।

ऊपर लिखे हुए चित्र में कवि वा शिल्पी का सब से ऊँचा आदर्श विवृत हुआ है, जिससे उन्हें विदित हो कि शिल्प की सीमा कितनी दूरस्थ तथा दुरधिगम्य है। कहा जा सकता है कि कल्पना में ही ऐसे कवियों वा शिल्पियों का होना सम्भव है, वास्तव जगत में नहीं। जब वे अपनी अनुभूतियों को वास्तव आकार देने को समर्थ नहीं है, तब उनके अस्तित्व का क्या प्रमाण है? वे अपना परिचय देना नहीं चाहते। जिन लोगों ने विधाता के अनुग्रह से अथवा प्रकृति की किसी अज्ञात तथा अज्ञेय नियम से इस प्रकार का कवि-प्राण प्राप्त किया है, और लोकातीत कवित्व के पूर्ण आविर्भाव से इस प्रकार से अभिभूत होते हैं, उन्हें हम पहचानें वा नहीं पहचानें, वे ही यथार्थ साधक हैं, वे ही सिद्ध हैं और वे ही मानव-जाति के दिव्य-नेत्र हैं। उनकी सौम्य मूर्ति से एक स्वर्गीय ज्योति सी निकलती है। वे सुख-दुःख के अतीत हैं। कृच्छ्र के साधन और धर्म के पालन में उनका अदम्य उत्साह है। सांसारिक उपभोग के विनिमय में विश्व सौन्दर्योपभोग के प्रयासी हैं।

उदासीन होने पर भी वे आसक्तों के सदृश कर्म-निरत रहते हैं, और करुणा-युक्त तथा स्नेह-प्रवण होते हैं। उनकी अकांक्षाएँ स्वभावतः ही जगत्-सुख-प्रवर्तिनी, मानव-कुल-हितसाधिनी होती हैं। उनकी आशा-वाणी वसन्त-समागम की प्रिय-सम्वाद-दायिनी-पिक-बधू की नाईं पीयूष-वर्षिणी है। समीरण उनके शीतल

स्पर्श से स्निग्ध तथा सुरभि हो जाता है। उनकी पवित्र पद-रेणु के संस्पर्श से धरातल मनुष्य-निवास योग्य हुई है। उन्होंने व्यवहार किया है इस कारण मनुष्य की भाषा आज तक भी सुख-दुःख के सुदारुण परीक्षा-समय में उसके दग्ध हृदय को शीतल कर रही है और नैराश्य में आश्वासन दे रही है। इसी हेतु भाषा में दया, उत्साह, शान्ति तथा प्रीति इत्यादि अतिमानुषिक भावों को वहन करने की शक्ति विद्यमान है। नतुवा वह पिशाच-कण्ठ से भी अधिकतर श्रुति-कठोर होती। भक्ति ऐसे कवियों के हृदय-कानन का नित्य विकसित कुसुम है, आराधना उस भक्ति-विलसित अन्तःकरण का स्वाभाविक उच्छ्वास।

उच्च कोटि के लौकिक कविगण भी समय समय पर क्षणकाल के निमित्त भावावेश से अभिभूत होकर वाह्यज्ञान-शून्य हो जाते हैं। तब उनकी अन्तर्दृष्टि खुल जाती है और उनके मानस-क्षेत्र में असाधारण सौन्दर्यों का आविर्भाव तथा अलौकिक भावों का उदय होता है। इन सौन्दर्यों के चित्रों को तथा भाव-जनित अपूर्व सत्यों को वे अपनी कविताओं में यत्र-तत्र व्यक्त करते हैं। व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, होमर, दान्ते, शेक्सपीयर, हाफ़िज़, उमर-ख़य्याम, चण्डीदास, जायसी, तुलसीदास, सूरदास, तथा रवीन्द्र-नाथ की कविताओं में ऐसे सौन्दर्यपूर्ण चित्रों तथा तथ्यपूर्ण उक्तियों के निदर्शन प्रचुर हैं, और इनके लिये जगत् उनके आभारी है।

रहस्यवाद क्या है ?

सभ्य जगत् की नाना जातियों में, क्या प्राच्य में, क्या प्रतीच्य में, क्या प्राचीन काल में, क्या मध्य-युग में, क्या आधुनिक समय में—ऐसी एक श्रेणी के मनुष्यों का परिचय मिलता है जो इन्द्रियानुभूति पर आस्थावान् नहीं हैं। यह इन्द्रियग्राह्य परिदृश्यमान जगत् उनके निकट मिथ्या है और जो कुछ सत्य है वह इसके परे है। उस सत्य का आविष्कार करना ही उनके जीवन का एकमात्र व्रत है। इस साधना में जीवन अतिपात करके भी बहुत लोग सिद्धकाम नहीं हो सके, तथापि वे अभीप्सित वस्तु के अन्वेषण से विरत नहीं हुए। उनमें से कोई कोई कहते हैं कि उन्होंने उस अमूल्य निधि का सन्धान पाया है और समय समय पर आराध्य देवता के साथ उनका संयोग हुआ है।

इस अज्ञात राज्य के अन्वेषणकारियों की बातों को सम्पूर्ण अश्रद्धेय समझना अनुचित है, क्योंकि इनमें से कितनों ने आदर्श-जीवन यापन किया है और आकांक्षा की वस्तु को पाने के लिए अशेष त्याग किया है, यहाँ तक कि अपने प्राणों तक का विसर्जन करने से कुण्ठित नहीं हुए। उन्होंने जिस राज्य में पर्यटन किया है उसके विषय में उनके आविष्कृत तथ्यों की आलोचना न करके उनके सम्बन्ध में मतामत व्यक्त करना उचित नहीं। अपने उद्देश की सिद्धि के लिए उन्होंने जितना कष्ट उठाया है और श्रम किया है, उतनी सहिष्णुता तथा अध्यवसाय हममें नहीं है तो क्या इसलिए कहना होगा कि वे भ्रान्त हैं।

साधारण चिन्ताधारा से उनकी चिन्ताधारा इतनी विभिन्न

है कि उनके विचार-समूह तथा कार्य-प्रणाली के भीतर प्रवेश करने के लिए हमें अपने आपको उनके उपयोगी बना लेना होगा। सबसे पहले चित्तशुद्धि ही आवश्यक है। यहाँ निर्मल चित्त ही ज्ञान का द्वार-स्वरूप है। और हमें पूर्व-संस्कारों को भूलना होगा—वास्तव जगत को सत्य मान लेने के अभ्यास को और विज्ञान ही सर्वस्व है और अध्यात्मतत्त्व अकिञ्चित्कर है, इस मनोभाव को छोड़ना होगा। मन को संस्कारशून्य कर*, सब प्रकार की मानसिक अनुभूतियों की भित्तियों की परीक्षा कर हमें तथाकथित छायावादियों की, कवि तथा भक्तवृन्दों की उक्तियों की समालोचना में प्रवृत्त होना होगा। जब तक हम एक सत्य जगत् के अस्तित्व का प्रमाण देकर इस कल्पना-राज्य के साथ उसकी तुलना नहीं कर सकते तब तक उनकी उक्तियों को असार कहने का अधिकार हमें नहीं है।

जगत् के स्वरूप का विचार दर्शन-शास्त्र के अन्तर्गत है, और दार्शनिक उलझन के भीतर प्रवेश करना मेरी शक्ति के अतीत तथा इस आलोचना के उद्देश के बाहर है। तथापि कुछ प्राथमिक तत्त्वों की बातें हमें स्मरण करनी ही पड़ेंगी।

सबसे पहला तत्त्व है 'अहम्' अर्थात् 'मैं'। 'मैं' के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई सन्देह ही नहीं रह सकता। साधारण मानव के अपने अस्तित्व के विश्वास को कोई भी दार्शनिक मूलच्युत नहीं कर सकता। अतएव 'मैं हूँ', इस विषय में कोई सन्देह

---

* अर्थात् मन की जिस अवस्था को बर्ट्रांड रसेल ने 'डिसइन्टरेस्टेड क्यूरिआसिटी' कहा है उस अवस्था में आकर।

ही नहीं है* । सन्देह है केवल 'मैं' को छोड़कर 'और क्या है' इस सम्बन्ध में ।

शुक्ति की नाईं अपने देह-कोष में आबद्ध इस 'मैं' में वार्ताओं का स्रोत अविराम गति से अहरहः आ रहा है । 'मैं' अर्थात् 'आत्मा,' उनका अनुभव कर रहो है । अनुभूतियों में जितनी स्पर्श-स्नायुओं की, दर्शन-स्नायुओं की तथा श्रवण-स्नायुओं की उत्तेजना से उद्भूत होती हैं, वे ही प्रधान हैं । इन अनुभूतियों का अर्थ क्या है ? अर्थ यही है कि संस्कार-शून्य आत्मा के निकट ये बहिर्जगत का परिचय देती हैं । जगत कैसा है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए 'मैं' को अर्थात् आत्मा को इन्द्रियानुभूतियों का मुँह ताकना पड़ता है । इन्द्रियों की सहायता से, चाहे इच्छा से हो, चाहे अनिच्छा से, चारों ओर से जो सब वार्तायें वन्या की नाईं 'मैं' के निकट उपस्थित होती हैं, उन्हीं से 'मैं' अपना बाह्य जगत् गठित करता है—वह बाह्य जगत् जिसे साधारण लोग वास्तव जगत् के नाम से जानते हैं। स्नायुमण्डल की सहायता से प्राप्त अनुभूति-समूह के योग-वियोग इत्यादि के विन्यास के द्वारा 'मैं' में एक सामान्यता का भाव उत्पन्न होता है, जिसे वह बाह्य जगत् करके ग्रहण करता है । यह 'मैं' वा 'आत्मा' ही ज्ञाता है, और जो कुछ वह जानती है वही ज्ञेय है । अपनी अनुभूतियों को कुछ अज्ञात वस्तुओं में

---

* बौद्ध मत में सब वस्तुएँ क्षणिक हैं, अर्थात् प्रतिक्षण में भिन्न हो जाती हैं । अतएव 'मैं' वा आत्मा भी प्रतिक्षण में भिन्न है । अब जो 'मैं' है, क्षण में वह 'मैं' नहीं रहेगा । अतएव "मैं" की यथार्थ सत्ता नहीं है । किन्तु इस क्षण का "मैं" पूर्व-क्षण के 'मैं' का परिणाम होने के कारण "मैं" की सत्ता में कोई बाधा नहीं पड़ती ।

आरोपित करते हुए आत्मा में जो सामान्यता का भाव उत्पन्न होता है वही आत्मा का ज्ञेय वा बाह्य जगत् है । कौन जानता है कि नक्षत्र-समूह धधक रहे हैं या नहीं ? मेरे भीतर औज्ज्वल्य की जो अनुभूति होती है उसी को मैं नक्षत्र में आरोप करके उसे उज्ज्वल कहता हूँ । बाह्य जगत् की हममें निश्चित धारणा नहीं है । हमारा व्यावहारिक जगत् सत्य जगत् से भिन्न है ।

अतएव प्रत्यक्ष जगत् के नाम से जो जगत् माना जाता है वह यथार्थ बाह्य जगत् नहीं है—वह केवल आत्मा के आभ्यन्तरीण चित्रों का बहिर्निक्षेप है—अध्यास-मात्र है—वैज्ञानिक सत्य नहीं है—कला-निष्पन्न वस्तुओं के समान कल्पना-प्रसूत है । इस प्रकार की कृत्रिम वस्तु का विश्लेषण करना व्यर्थ है । अतएव इन्द्रियानुभूतिजनित प्रमाण यथार्थता का चरम प्रमाण नहीं है । इन्द्रियज अनुभूतियों के द्वारा भृत्यों का काम चल सकता है—उनसे पथ-प्रदर्शकों का काम कराना निरापद नहीं । एतद्व्यतीत जो लोग इन्द्रिय के प्रमाणों के विश्वासी नहीं हैं, इन्द्रियज प्रमाणों के द्वारा उनके मतों का खण्डन करना भी सम्भव नहीं । स्नायु-तन्तुओं के द्वारा ही बाहर के संवाद भीतर पहुँचते हैं । कौन कह सकता है कि बाहर के कुछ कुछ तथ्य रास्ते में रुद्ध, विकृत वा लुप्त नहीं हो जाते और हमें अज्ञात नहीं रहते ? अतएव देखा जाता है कि हमारा ज्ञान-भाण्डार हमारे शारीरिक यन्त्र आदि के विधान के द्वारा सीमित है । हमारी पाँच इन्द्रियाँ हमें जितना जानने देती हैं, उतना ही हम जानते हैं—उतना भी सम्पूर्ण रूप से नहीं । ऐसे बहुजातीय जीवों का रहना सम्भव है जिनके संवित्-केन्द्र के साथ बहिर्जगत् का संयोग अन्य प्रकार से सङ्घटित होता है । उनकी बहिर्जगत् की अनुभूति भिन्न प्रकार से होनी

असम्भव नहीं। अतएव बहिर्जगत् के सम्बन्ध में हमारी जो धारणा है वह निर्मूल कैसे स्वीकार की जा सकती है? यदि स्नायु-तन्तुओं के गुणों वा विधानों का सामान्यमात्र हेर-फेर हो जाय तो कदाचित् वर्ण सुना वा शब्द देखा जायगा—कहते हैं कि साँप का देखने तथा सुनने का काम आँखों के द्वारा ही होता है। यथार्थ बाह्य जगत् जैसा है, वैसा ही रहेगा, केवल हमारी अनुभूतियों का व्यत्यय होगा। जगत् से यद्यपि सौन्दर्य का लोप नहीं होगा, किन्तु भिन्न रसना के द्वारा प्रकाशित होगा। कोकिल का कूजन चक्षु-स्नायु-समूह को आघात करते हुए वर्णच्छटा के कौतुक का प्रदर्शन करेगा।

अतएव जिसे हम सत्य जगत् कहते हैं वह सत्य नहीं है—वह हमारे मन के भीतर ही सीमाबद्ध है—वह हमारा व्यावहारिक जगत्-मात्र है। इन्द्रिय-निगड़ में आबद्ध हम सत्य जगत् को नहीं जान सकते। हम जानने को असमर्थ हैं, इसलिए क्या यह कहना होगा कि उसका अस्तित्व ही नहीं है? रहस्यवादीगण कहते हैं कि निश्चय है। उस सत्य के अनुसन्धान में वे निरन्तर व्यस्त हैं। जिन्होंने सत्य का सन्धान पाया है उनकी अनुभूतियाँ हमारी अनुभूतियों से भिन्न हैं। उन्होंने पहले ही अभ्यास के द्वारा* अपने स्नायु-मण्डल को सत्य-जगत् की अनुभूतियों के उपयोगी बना लिया है, और बाद को सब अनुभूतियों के ऊर्ध्व में उठकर सत्य वा आत्मा को प्रत्यक्ष किया है। सत्य जगत् की कोई भाषा न रहने के कारण उन्होंने व्यावहारिक

---

*योग के प्रथम स्तर में नाना प्रकार की शारीरिक क्रियाओं जैसे (हमारे देश में) आसन, प्राणायाम इत्यादि के द्वारा, द्वितीय स्तर में ध्यान के द्वारा, तृतीय स्तर में समाधि के द्वारा और अंत में असम्प्रज्ञात वा निर्विकल्प समाधि के द्वारा।

जगत् की भाषा का अवलम्बन कर सत्य वा परमात्मा को 'दिव्य सङ्गीत,' 'अजात ज्योतिः' इत्यादि वाक्यों से व्यक्त किया है।*

सब मनुष्यों की चित्तवृत्तियाँ एक-सी नहीं हैं। दो व्यक्तियों के मन में सत्य के चित्र एक ही प्रकार के हैं या नहीं, इस विषय में बड़ा सन्देह है। वास्तववादी (प्रत्यक्षवादी) जो इन्द्रियों के प्रमाणों पर सम्पूर्ण निर्भर करते हैं, इन्द्रियानुभूति-ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है, ऐसा विश्वास करते हैं†। उनके निकट यह परिदृश्यमान जगत् सत्य है‡। प्रत्यक्षवादी लोग मानसिक अनुभूति-समूह को वस्तु में आरोप कर वस्तु को सत्य समझते हैं। किन्तु जो सब गुण, यथा वर्ण, स्थूलता इत्यादि, वस्तु में माने जाते हैं उनका अस्तित्व है या नहीं, यह सन्देह का विषय है—वे मानव मन के भावमात्र हैं। जिसे हम वस्तु कहते हैं

---

* वेदान्त में सत्य वा ज्ञान की चार अवस्थायें कही गई है—वैखरी, मध्यमा पश्यन्ती और परा, अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम। साधारणतः स्थूल वा वैखरी सत्य के साथ ही हम लोगों का परिचय है। सूक्ष्म, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम ज्ञान की अनुभूति होने पर भी हमें विवश होकर स्थूल वा वैखरी शब्द-समूह के द्वारा ही उसे व्यक्त करना पड़ता है।

† (क) चार्वाक-दर्शन केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है—अनुमान आदि प्रमाणों को नहीं स्वीकार करता। जो वस्तु प्रत्यक्ष नहीं होती उसका अस्तित्व नहीं है। अतएव ईश्वर तथा परलोक नहीं हैं। मीमांसक, बौद्ध दिगम्बर, कपिल—ये यद्यपि ईश्वर को नहीं मानते, तथापि परलोक को स्वीकार करते हैं।

‡ सांख्य-दर्शन ने भी जगत् को सत्य कहा है। यह जगत् प्रकृति का परिणाम है। जगत् में दो ही सत्य वस्तुएँ है—प्रकृति तथा पुरुष। प्रकृति क्रियाशील है। पुरुष प्रकृति के कार्यों का साक्षीमात्र है,—ज्ञाता। जगत् है ज्ञेय।

वह केवल परमाणु-पुञ्ज है*। प्रत्येक अणु के परमाणु-समूह परस्पर के चारों ओर माना नृत्य करते रहते हैं—सम्भवतः अति कठिन वस्तु भी कुहरे के जल-कण-समूह से अधिक घनी वा कठिन नहीं। वर्ण-समूह चक्षु-स्नायुओं की क्रियामात्र हैं। कामल-रोग-ग्रस्त व्यक्ति की दृष्टि में सब वस्तुएँ पीली लगती हैं। स्वप्न में भी नाना वर्णों की अनुभूति होती है। तब† वस्तु की सत्यता कहाँ?

बहुत लोग कहेंगे कि किसी वस्तु के सम्बन्ध में अधिकांश मनुष्यों की अनुभूतियाँ जब एक ही प्रकार की हैं तब यही उसकी सत्यता का प्रमाण है। पहले ही कहा गया है कि किन्हीं दो व्यक्तियों की अनुभूतियाँ समान नहीं। सुविधा के लिए अधिकांश मनुष्यों की सम्मति से मतों के ऐक्य को हमने सत्य मान लिया है। प्रत्येक मनुष्य ही स्वकल्पित जगत् का अधिकारी है। एक व्यक्ति का जगत् अन्य व्यक्ति के जगत् से भिन्न है। प्रचुर अर्थ मिलने से एक व्यक्ति किस किस दान में तथा लोक-हितकर कार्य में उसका नियोग करेगा, इसी चिन्ता में लगा रहता है। दूसरा व्यक्ति ऐसी अवस्था में अपने अर्थ के द्वारा कौन कौन विलास-प्रवृत्ति चरितार्थ करेगा, इसी सोच में डूबा रहता है। रासायनिक विद्वानों में कोई मनुष्य-जाति के उपकार के और कोई ध्वंस के साधनों के आविष्कार के लिए अपने आपको नियत करता है।

* कणाद का वैशेषिक दर्शन।

† इन्द्रिय-निचय जागतिक वस्तुओं का यथायथ ज्ञान देने में असमर्थ हैं। यदि सामर्थ्य रहता तो एक ही वस्तु निकट से वा दूर से समान प्रतीत होती, भिन्न प्रकार की अनुभूत न होती।

हम लोगों में प्रत्येक व्यक्ति जैसे जैसे जीवन-पथ में अग्रसर होता है, वैसे वैसे अनुमान करता है कि हमारे इन्द्रिय-ग्राह्य जगत् का परिवर्तन हो रहा है। क्या यथार्थ ही जगत् की प्रकृति बदल रही है? नहीं—हम जिन सब उपादानों से निर्मित हैं, धीरे धीरे उनके गुणों तथा संस्थानों का व्यतिक्रम हो रहा है, इसलिए बाह्य जगत् हमारी अनुभूतियों में भिन्न धर्मी अनुमित होता है। बाल्य तथा यौवन में जिन सब वस्तुओं में हमारी प्रीति थी, अब वार्द्धक्य में उनमें रुचि नहीं है। किन्तु जो सत्य है वह स्थायी है—उसका परिवर्तन नहीं होता*। जब मन के परिवर्तन के साथ आत्मा की अनुभूतियों का सम्पर्क न रहेगा तभी सत्य का दर्शन मिलेगा।

ऊपर लिखी हुई उक्तियों के द्वारा मैं पाठकों को वास्तव जगत् के विषय में अपनी व्यावहारिक धारणा का परित्याग कर मानसिक शून्यवाद का अवलम्बन करने का परामर्श नहीं दे रहा हूँ। मेरा कहना यह है कि जिन अनुभूतियों को वे यथार्थ मानते हैं और वैज्ञानिकगण प्रमाण-स्वरूप जानते हैं वे सब आपेक्षिक और सर्व-सम्मति से गृहीत-मात्र हैं; और जिन सब मानसिक चित्रों को रहस्यवादी अङ्कित करते हैं उनकी व्यावहारिक उपयोगिता न रहने पर भी अथवा इन्द्रियक्षेत्र के अगोचर रहने पर भी वे सम्पूर्ण अग्राह्य नहीं किये जा सकते। प्रत्यक्षवादी की अनुभूति में भी विश्व के नाना वैचित्र्य के चित्र उपस्थित होते हैं। वे चित्र एकाङ्गीभूत होकर एक समष्टिगत चरम सत्य का निर्देश करते हैं। तब प्रत्यक्षवादियों के मन में

---

* यद्रूपेण यद् निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत् सत्यम्।

शङ्कराचार्य

भी इस प्रश्न का उदय होता है—"यह अद्वितीय वस्तु क्या है?" ऐसे प्रश्न प्रत्यक्ष-ज्ञान-निरपेक्ष हैं—ये मनुष्य की स्वभावजात आकांक्षा ही व्यक्त करते हैं। जब तक वह उस सर्वाश्रय अज्ञात वस्तु को नहीं पाता तब तक उसके अन्तर की क्षुधा नहीं मिटती।

यही है वास्तववादियों वा प्रत्यक्षवादियों का कहना। जो भाववादी हैं, अब उनके मत की कुछ आलोचना लीजिए। वे इन्द्रियानुभूति को दूर हटाकर भाव को ही प्राधान्य देते हैं। वे कहते हैं कि केवल दो ही पदार्थों को हम निश्चयता से जानते हैं—एक सचेतन चिन्ताशील ज्ञाता और दूसरा उस ज्ञाता का भाव-रूप ज्ञेय। उनके मत में मन और मन की क्रिया (ज्ञान) के अतिरिक्त संसार में और कोई पदार्थ ही नहीं है। जिसे हम जगत् कहते हैं वह कुछ मानसिक चित्रों के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं—वह सत्य नहीं है—वह सत्य की देश-कालाधिकृत छाया-मात्र है। सत्य वह सम्पूर्ण तथा अविकृत ज्ञेय वा ज्ञान-समुद्र है जिसका बिन्दुमात्र का संग्रह करने को भी हम असमर्थ हैं। सर्वभूत, अखिल चराचर, उस एक-मात्र शाश्वत ज्ञेय की अभिव्यक्ति है। स्वयं ज्ञाता भी ज्ञेय पर्याय-भुक्त हैं। इन्द्रिय-निचय तथा मन के द्वारा—देश-काल-वस्तु-जनित सीमा के भीतर—उस ज्ञेय के कुछ स्वरूपों की उपलब्धि होती है। किन्तु देश, काल तथा वस्तु को सत्य का, अर्थात् चरम ज्ञान का अंश मानने का कोई कारण नहीं। जैसे जैसे हमारा उपलब्धि-क्षेत्र अनादि, अनन्त ज्ञान-राशि की ओर प्रसरित होता जाता है, वैसे वैसे हम सत्य का अधिकतर सान्निध्य-लाभ करते जाते हैं। शाश्वत, अपरिच्छिन्न, असीम भाव ही अर्थात् ऐश्वरिक

ज्ञान ही भाववादियों का चरम सत्य है । यही वह परम पदार्थ है जिसके स्पर्श से साधारण बुद्धि में, विज्ञान में, दर्शन में तथा कला में जितने भिन्न भिन्न क्षुद्र, अनित्य जगत् सृष्ट होते हैं उनकी भिन्नता दूर होती हुई सभों का एकीकरण हो जाता है । अतएव हम इस सिद्धान्त पर उपनीत होते हैं कि अतीन्द्रिय (अलौकिक) जगत् ही सत्य जगत् है ।

भौतिक जगत् के इन्द्रियग्राह्य विषय-समूह के द्वारा मनुष्य का भाग्य नियन्त्रित नहीं होता । मानस-क्षेत्र में विचार-जनित जितने सामान्यता के बोध उत्पन्न होते हैं उन्हीं के द्वारा मनुष्य कर्म को प्रेरित होता है । जब वह आध्यात्मिकता के उच्च स्तर पर उन्नीत होता है तब बोध-समूह सत्य के रूप में प्रतिभात होते हैं । इन भाव-समूहों के द्वारा परिचालित होकर इन्हें कार्य में परिणत करने के लिए ही ऐसा मनुष्य प्राण-धारण करता है, कर्म में नियत रहता है, क्लेश सहता है और अन्त में धरा-धाम से बिदा लेता है । प्रेम, राष्ट्रीयता, धर्म, त्याग, यश—ये सब भाव अलौकिक जगत् की सामग्रियाँ हैं । अतएव भौतिक जगत् की अपेक्षा सत्य के साथ इसका सम्बन्ध अधिक है ।

भाववाद के भीतर ही हम जीवन के सर्वोच्च सिद्धान्तों को पाते हैं । यह केवल इन्द्रिय-सम्पर्कहीन मानसिक युक्तियों के द्वारा निर्णीत हुआ है, ऐसा नहीं—परमसत्ता को पाने के लिए मनुष्य के भीतर जो प्रकृतिगत प्रवणता है, यह उसी की व्यञ्जना है । किन्तु इसकी यह त्रुटि है कि यह नहीं बताता है कि किस उपाय से पूर्ण तथा सत्य सत्ता हमारे हस्तगत हो सकती है ।

इसके साथ और एक मतवाद की भी आलोचना आवश्यक है । उसको हम दार्शनिक संशयवाद का नाम दे सकते हैं । सन्देह-

वादी सत्ता के विषय में प्रत्यक्षवादियों का मत ग्रहण करने को प्रस्तुत नहीं हैं। भाववादियों के सम्बन्ध में भी उनका मनोभाव वैसा ही है। प्रत्यक्षवादी चक्षुकर्ण के प्रमाणों के द्वारा कहेंगे कि श्याम ही यथार्थ श्याम है, किन्तु भाववादियों का कहना यह है कि इन्द्रिगोचर श्याम श्याम नहीं है—उसके पीछे जो अतीन्द्रिय वा भावगत श्याम की विद्यमानता है वही श्याम है। उसकी गुणावली हमें अज्ञात है वा बोध के अतीत है। संशयवादी कहते हैं कि बाह्य जगत् का अस्तित्व केवल मन में है। यदि मेरा मानसिक यंत्र नष्ट हो जाय तो हम जिसे जगत् कहते हैं उसका भी अस्तित्व न रहेगा। जिसे आत्मा की अनुभूति कहते हैं, मेरे निकट केवल उसी का अस्तित्व है। अनुभूति की सीमा के बाहर क्या है या नहीं है, इस विषय में अनुमान करने का मुझे अधिकार नहीं। अतएव मेरे निकट 'नित्य अनिर्वचनीय सत्ता' यह वाक्य अर्थहीन है—चिन्ता की जटिलता-मात्र है; कारण कि मन के बहिस्थ जगत् के साथ मन का सम्बन्ध यदि सम्पूर्ण लुप्त हो जाय तो अपने भाव-समूह के अतिरिक्त अन्यत्र सत्य पदार्थ का अस्तित्व कहाँ है?

दार्शनिक संशयवाद युक्तिपूर्ण है, इसमें सन्देह नहीं—इसकी असंगति प्रमाणित करना असाध्य है। जो लोग प्रत्यक्ष में विश्वास करते हैं वे विज्ञान-चर्चा में आत्मनियोग कर सन्तोष प्राप्त करना चाहें तो करें। अतीन्द्रिय सत्ता में जिनका विश्वास है वे भाववाद में निमज्जित रहें तो रहें। किन्तु यथार्थ धी-शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति कभी निर्विवाद रूप से सहजात-ज्ञान वा आवेग के हाथ आत्म-समर्पण नहीं करेंगे। किसी न किसी आकार में संशय उनके मन में प्रवेश करेगा ही। संशयवाद के सम्बन्ध में केवल

आपत्ति यह है कि इससे मानसिक शून्यवाद की उत्पत्ति हो सकती है। किन्तु मानव प्रकृति में परमात्मा के प्रति जो स्वभावज विश्वास निहित है उसके यथोचित पोषण के द्वारा इस अनिष्ट से बचा जा सकता है। सब मतावलम्बी दार्शनिक यदि मूल-भित्ति के रूप में गृहीत अपने अपने मतों का अनुसरण कर विचार कर देखें तो वे स्वीकार किये बिना नहीं रह सकेंगे कि हममें प्रत्येक व्यक्ति ही एक अज्ञात तथा अज्ञेय जगत् में बसकर और उस सम्बन्धी चिन्ताओं में नियत रहकर वहाँ से अन्तर्हित होता है। उस जगत् में हम नाना अनियन्त्रित, अपरीक्षित तथा अपरिज्ञात भावों तथा इङ्गितों के द्वारा पुष्ट होते हैं। किन्तु यद्यपि उसके कार्य में अभ्रान्त ऋत वा असाधारण शृंखला स्थूल नेत्रों से दृष्टिगोचर नहीं होती है, तथापि अज्ञात और अनिर्दिष्टरूप में उसके जो सब इङ्गित हमारी अनुभूति में उपस्थित होते हैं उन्हीं पर निर्भर रहकर हमें जीवनयात्रा में अग्रसर होना होता है। जो सब प्राकृतिक नियमों को मानव-मन ने पर्यवेक्षण तथा परीक्षा के द्वारा निज सुविधा के लिए उद्भावन किया है, उन्हीं पर विश्वास-स्थापन कर हमें इस जगत् का कार्य सम्पादन करना पड़ता है।

दर्शनशास्त्र एक अज्ञात पदार्थ का इङ्गित करने को पश्चात्पद नहीं, किन्तु वह अज्ञात पदार्थ क्या है, कहाँ है और किस प्रकार से पाया जा सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में वह कहता है—"नहीं जानते।" जिस लक्ष्य की ओर वह निर्देश करता है, नाना आडम्बर दिखाते हुए भी उस तक नहीं पहुँच सकता, यहाँ तक कि वह ज्ञाता को ज्ञेय से पृथक् करने को असमर्थ है। विज्ञान की पहुँच भी कहाँ तक है? वह तो प्रत्यक्ष को लिये हुए ही व्यस्त है। किन्तु भीतर भीतर वह भी भाववादी है—उसे भी कल्पना का

आश्रय लेना पड़ता है। वह जानता है कि उसका ससीप प्रतारक अनुभूति-समूह और उसका विचित्र जगत् जिसमें उसकी इतनी आस्था है, उसे एकमात्र लक्ष्य की ओर ही ले जा रहे हैं—जीवन-प्रवाह की रक्षा और उसके फल स्वरूप विश्व-नियन्ता की अति रहस्यमय कल्पना को सफल करना।

विज्ञान कहता है—"हममें दर्शन, स्पर्शन, श्रवण तथा घ्राण शक्ति है, इसलिए हम इधर-उधर विचरण कर सकते हैं। पुञ्जाति स्त्री-जाति में सौन्दर्य का अनुभव करती है, इसलिए जीवन की धारा अक्षुण्ण रहती है। हाँ, यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि इन सहजात आदिम वृत्तियों का विकास होते हुए उच्चतर तथा पवित्रतर मनोवृत्तियों का उदय हुआ है। तथापि ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इनकी निजी कोई सार्थकता नहीं है। समाज के इष्ट के लिए इनकी भी यथेष्ट आवश्यकता है। यदि जीवन-धारण करना है तो भोजन करना ही पड़ेगा। अतएव अनेक खाद्यों से हमें सुखद अनुभूतियाँ होती हैं। फिर हम यह भी जान गये हैं कि अति भोजन का परिणाम अप्रीतिकर है। कुछ ऐसे विषय हैं जिनकी अनुभूति यदि सर्वदा वर्तमान रहे तो नैराश्य से हमारी जीवनी-शक्ति की हानि हो सकती है—जैसे जीवन की अनिश्चयता, शरीर का क्षय, वस्तुमात्र की अनित्यता इत्यादि। इस हेतु ये अनुभूतियाँ स्पष्ट हैं। जब हमारा शरीर सतेज रहता है तब हमारी वास्तवता, सारवत्ता तथा स्थायित्व का बोध प्रबल होता है। यह मनोभाव भ्रमात्मक तथा हास्यजनक होने पर भी जाति की रक्षा तथा योग्यता की वृद्धि के विचार से इसकी उपकारिता कम नहीं है।"

किन्तु निकट से यदि देखे जायँ, ऐसे अनेक विषय हैं जो

प्रयोजनीयता की सीमा के भीतर नहीं रक्खे जा सकते। प्रयोजन से अतिरिक्त अनेक विषयों ने मानव-मन को अपने अधिकार में किया है। केवल जीवन-धारण की इच्छा से मनुष्य जिन सब वस्तुओं को उत्पन्न करता था, जिस मुहूर्त से उन सब वस्तुओं से उसकी रुचि हट गई है, उसी मुहूर्त से उसने अपने स्वाभाविक विकास को व्याहत किया है। उसकी मनोवृत्ति असन्तोष के कुहक में फँस गई है—भौतिक सीमा को अतिक्रम कर क्रमोन्नति ने मनोराज्य में प्रवेश किया है। वास्तव को त्यागकर मनुष्य अवास्तव आकांक्षाओं का दास, यथेच्छ तथा असाध्य कल्पनाओं का जनक, स्वप्न-राज्य का अधिवासी हुआ है। हाँ, यदि उसका स्वप्न उसे भौतिक वा मानसिक प्राधान्य के अतिरिक्त किसी उच्चतर लक्ष्य की ओर चालित करे तो वह स्वप्न न्यायसङ्गत विवेचित हो सकता है। यदि कलाविषयक तथा आध्यात्मिक अनुभूति-समूह भी क्रमोन्नतिवाद के अन्तर्भुक्त किया जा सके तो क्रमोन्नतिवाद भौतिक आधार में सीमाबद्ध न रहकर मानसिक आधार में पुनर्गठित होगा।

अति साधारण मानव-जीवन में भी ऐसी कुछ मौलिक अनुभूतियों का पता मिलता है जिनकी विज्ञान-सम्मत व्याख्या करना असम्भव है। इन अनुभूतियों के और इनसे नाता रखते हुए आवेग-समूह के साथ जीवन के भौतिक अंश का सम्बन्ध बहुत अल्प होने पर भी चरित्र पर इनका प्रभाव असामान्य है। कार्य-कारण-मूलक वैज्ञानिक जगत् के साथ इनका सामञ्जस्य नहीं किया जा सकता। धर्म-विषयक, क्लेश-विषयक तथा सौन्दर्य-विषयक अनुभूति समूह इस श्रेणी के अन्तर्भुक्त हैं। चिन्ताशील

व्यक्तियों ने अति श्रद्धा तथा अनुराग के साथ इनकी आलोचना की है।

(१) यौक्तिकता के ऊपर धर्म की नींव नहीं डाली गई है—वह विश्वास के ऊपर डाली गई है। धर्म में ऐसे कितने हो तत्त्व मान लिये जाते हैं जो विचार के द्वारा प्रतिपन्न नहीं किये जा सकते। इसमें अतीन्द्रियता को अधिक गुरुत्व दिया जाता है और अलौकिक जगत् सत्य माना जाता है। विश्वास ही जीवन का प्रधान अङ्ग है, और विश्वास ही धर्म की भित्ति है। यद्यपि वास्तव जीवन के सरल प्रवाह में धर्म अनेक बधायें डालता है, तथापि इसकी गति अप्रतिहत है। मानव-हृदय में इसका मूल दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित है। असभ्य अवस्था में यह लौकिक सुविधा का साधन विवेचित होता था, किन्तु मनुष्य-जाति की जितनी ही अग्रगति हो रही है, उतना ही यह सूक्ष्म भावों से पूर्ण और अलौकिक राज्य के पदार्थों में परिणत हो रहा है।

(२) दुःखभोग का तत्त्व क्या है? जो सब शारीरिक तथा मानसिक क्लेश अभ्रान्त स्वाभाविक नियमों के अवश्यम्भावी फल हैं, और मनुष्य की निष्ठुरता, लालसा तथा अविचार के द्वारा परिवर्द्धित होते हैं उनका उद्देश क्या है? क्लेश के कुछ साधारण उदाहरण उपस्थित कर और उनके बाह्यिक कारण प्रदर्शन कर वैज्ञानिक कहेंगे कि जाति के लिए उनकी यथेष्ट उपकारिता है, कारण कि वे हमें अतीत निर्बुद्धिता के लिए शास्ति देते हैं, नवीन उद्यम के लिए उत्तेजित करते हैं और भविष्यत् उल्लङ्घनों से सतर्क करते हैं। किन्तु वैज्ञानिकगण क्लेश के गम्भीर तत्त्वों की व्याख्या करने को भूल जाते हैं। किसी अपराध के अपराधी न होकर भी बहुतों को क्लेश क्यों भोग करना पड़ता है? जगन्नियन्ता

निरपराध शिशु को दीर्घकाल-व्यापी अनारोग्य रोग की दारुण यन्त्रणा क्यों सहने देते हैं ? प्रियजन-वियोग के निबिड़ शोक का मनुष्य को क्यों अनुभव करना होता है ? जीव को मृत्यु की नाना भीषण यातनाओं के अधीन क्यों होना पड़ता है—इस विस्मयकर व्यापार का भी कारण प्रदर्शित करना वैज्ञानिक भूल जाते हैं, क्योंकि जितनी ही सभ्यता तथा संस्कृति की प्रगति हो रही है, उतनी ही मनुष्य की क्लेश-सहिष्णुता की मात्रा बढ़ती जा रही है। और भी आश्चर्य की बात यह है कि अनेक उच्च स्तर के व्यक्तियों ने आदर तथा आग्रह के साथ क्लेश को वरण कर लिया है, और क्लेश के भीतर ही नाना रहस्यों का और अविनश्वर आनन्द का सन्धान पाया है। रहस्यवादी परमात्मा के विरह-जनित-दारुण क्लेश का अनुभव करते हैं। भारतवर्ष के कृष्णभक्त वैष्णवों ने परमात्मा के अदर्शन से जीवात्मा का जो तीव्र तथा दुःसह विरह-यातना गोपियों के मुख से व्यक्त की है वह क्या ही करुण तथा मर्मस्पर्शी है ! परमात्मा को प्राप्त करने के लिए योगी कठोर तपश्चरण करने के लिए व्यग्रता का प्रदर्शन करते हैं।

जिन अवस्थाओं में मन में दुःख वा दुश्चिंता उपस्थित होती है उन अवस्थाओं में आत्मा को पीड़ा क्यों होती है ? क्लेश मानसिक क्रिया है। शरीर में अस्त्रोपचार करने से दारुण यन्त्रणा होती है, किन्तु थोड़े-से क्लोरोफ़ार्म के प्रयोग से यन्त्रणा की अनुभूति क्यों नहीं होती ? मानसिक अनुभूति सम्पूर्ण रहने की अवस्था में ही केवल आत्मा की सुख-दुःख अनुभव करने

की शक्ति क्यों रहती है ? स्वप्न में यथेष्ट सुख-दुःख का बोध क्यों रहता है ?

क्लेश को हम चाहे जिस किसी ओर से देखें, इसमें संदेह नहीं रहता कि वह इन्द्रिय-ज्ञान-मूलक जगत् के साथ आत्मा के विरोध का भाव है। आत्मा की बाधित अवस्था ही दुःख है, और अबाधित अवस्था ही सुख है। यदि क्लेश का लोप करना चाहते हैं तो इन्द्रिय-उपलब्ध जगत् के साथ आत्मा के समीकरण का, नहीं तो जिस जगत् से उसका पटे उस जगत् के साथ उसका, सख्य-स्थापन करने का प्रबन्ध करना आवश्यक है। इस विषय में आशावादियों और नैराश्यवादियों के बीच मतभेद नहीं है। किन्तु जहाँ नैराश्यवादी जगत् में केवल भीषणता का ही अनुभव करते हैं और क्लेश से परित्राण पाने का कोई मार्ग नहीं निकाल सकते, वहाँ आशावादी क्लेश को निम्न जगत् का कठोर शास्ता न समझकर उसे अतीन्द्रिय सत्य जगत् के पथ-प्रदर्शक तथा उपदेष्टा के रूप में हृदयङ्गम करते हैं। आशावादी के जानने में आता है कि क्लेश उसे ऐसे एक जगत् की ओर चालित कर रहा है जो उसका अभीष्ट है, किन्तु जो उसके विरुद्धवादी का अनभिप्रेत है। आशावादी का विश्वास है कि क्लेश के द्वारा ही प्रेम पूर्णाङ्गता प्राप्त करता है*, और दोनों मिलकर उसे अद्वितीय सत्ता की ओर चालित करते हैं। वह क्लेश को भगवान्

* सन्तान के लिए माता का आत्म-त्याग ही प्रेम-जनित क्लेश का प्रत्यक्ष दृष्टान्त है। सर्वेन्द्रिय-निरोध ही त्याग की चरम अवस्था है। इन्द्रिय-परितृप्ति की वासना पराधीनता है, अतएव दुःख का मूल है। इन्द्रिय-निग्रह ही स्वाधीनता है, अतएव चरम आनन्द का आकर है।

का दान समझता है। इन्द्रिय-सुख के द्वारा प्रतारित न होकर बहुत लोग क्लेश को अपनाकर कठोर-व्रती तपस्वी बनते हैं। साधु तथा वीर-हृदय महापुरुषों के महत्त्व का बीज क्लेश-सहिष्णुता की भूमि में अंकुरित होता है।

योगी सत्य पदार्थ वा परमात्मा का दर्शन पाने के लिए ही अशेष कष्ट स्वीकार करते हैं। उनका विश्वास है कि परमात्मा को छोड़कर जगत् में दूसरी कोई सद्वस्तु नहीं है। जगत् में वही एकमात्र अद्वितीय सत्ता है। शङ्कराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई पदार्थ ही नहीं स्वीकार किया है। उनके मत में यह जगत् काल्पनिक है—मायामात्र है। जीव और ब्रह्म में भेद नहीं है। जीव ब्रह्म का ही अंश है। ब्रह्म ही सत् वा सत्य है—ब्रह्म ही चित् वा ज्ञान है। जब तक जीव माया वा अज्ञानता के आवरण से मुक्त नहीं हो सकता—जब तक उसको अपने ब्रह्मत्व की अनुभूति नहीं होती—तब तक उसे आनन्द नहीं है। योगी समाधि के द्वारा वह आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं। ध्यान की घनीभूत अवस्था को समाधि कहते हैं। समाधि में जब चित्त-वृत्ति का सम्पूर्ण निरोध हो जाता है, उस अवस्था को असम्प्रज्ञात वा निर्विकल्प समाधि कहते हैं। तप के बिना समाधि नहीं होती, और न निर्विकल्प समाधि के बिना सत्य वा आत्मा की उपलब्धि।

(३) सङ्गीत तथा काव्य की, लय तथा सौन्दर्य की अनुभूतियाँ हमें विस्मय, सम्भ्रम तथा आनन्द से आत्मविस्मृत कर देती हैं। आनन्दानुभूति क्यों होती है, यह कहना कठिन है। काञ्चनजङ्घा एक उच्च पर्वतशृङ्ग-मात्र है। तुषारपात से उसका गात्र शुभ्र वर्ण धारण करता है। इस प्राकृतिक वस्तु को देखकर

बहुत लोग इतने मुग्ध क्यों होते हैं? प्राकृतिक कारणों से पृथ्वी के कुछ विस्तीर्ण गह्वरों में बहुत-सा जल सञ्चित होता है। इस जलराशि को समुद्र कहते हैं। इसमें ऐसा क्या है, जिसे देखकर किसी किसी का मन विस्मय से आप्लुत होता है? चन्द्र एक सामान्य उपग्रहमात्र है। कुछ पराया आलोक उसके पृष्ठ से प्रतिफलित होता है। उसे देखकर किसी किसी का मन आनन्द से क्यों उद्वेलित होता है? पद्म वा गुलाब कुछ पत्रों की वर्णयुक्त परिणतिमात्र है। वे मानव-मन को क्यों उत्फुल्ल करते हैं? कोकिल एक सौन्दर्य-विहीन कृष्णवर्ण पक्षी है। उसके स्वर में बहुतों को इतने माधुर्य का अनुभव क्यों होता है? हरिण एक वन्य चतुष्पद जन्तु है। उसके नयनों में ऐसी कौन-सी मादकता है जिसके वर्णन में कवि-परम्परा मुखर है? इन समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। हम यह भी नहीं जानते कि जो उच्च कोटि की कला कहलाती है उसके द्वारा जातीय क्रमोन्नति में क्या सहायता मिलती है? सौन्दर्य का रहस्य अभी तक उद्घाटित नहीं हुआ है। हमने इतना ही विश्वास करने को सीखा है कि सौन्दर्य का आदर्श परिवर्तित होता जा रहा है। सौन्दर्य के निकट से जो स्पष्ट संवाद आते हैं, हम अभ्यासवश अपनी चेतना में उनके पहुँचने का इङ्गित पाते हैं, किन्तु यह नहीं जानते कि भेजनेवाले का स्वरूप क्या है?

यहीं हम आत्मा की उस अनुभूति का परिचय पाते हैं जिसे लोग रहस्यवाद कहते हैं। दर्शन-शास्त्र के प्रशस्त किन्तु अन्धकार-मय राजपथ का परित्याग कर एक श्रेणी के मनोवृत्ति-सम्पन्न मनुष्यों ने आदर्श सत्ता के निकट पहुँचने के निमित्त तीन सङ्कीर्ण किन्तु सरल पथों का आविष्कार किया है। वे दृढ़ता के

साथ कहते हैं कि धर्म में आत्म-नियोग करके, क्लेश को वरण करके और प्रकृति तथा कला के सौन्दर्य में निमज्जित रहकर सत्य के कम-से-कम, द्वारदेश तक अग्रसर होने को वे समर्थ हुए हैं। इन तीनों पथों के अवलम्बन से तथा और भी कितने ही रहस्यमय उपायों के द्वारा आत्मा के निकट सत्य के सम्पूर्ण स्वरूप के संवाद आते हैं, जो इन्द्रिय-ज्ञान के अनधिगम्य हैं। हेगेल ने कहा है कि "अध्यात्म-तत्त्व की इन्द्रियानुभूति ही सौन्दर्य है।" आइकेन ने कहा है कि "सत्य, शिव तथा सुन्दर सुसङ्गत तथा यथार्थ अध्यात्म-जगत् के अंश हैं। इन तीनों में ही हमें प्रकृत सत्ता की यथार्थ मूर्ति देखने में आती है।" इन उक्तियों के द्वारा यथार्थ जगत् का आवरण बहु-परिमाण से मुक्त होता है और स्पष्ट रूप से हो, चाहे अस्पष्ट रूप से, बद्ध आत्मा के निकट सत्य प्रतिभात होता है।

जिनका अतीन्द्रिय जगत् में प्रवेशाधिकार है वे सौन्दर्य को भास्वर रूप में स्वर्ग के देवताओं के साथ विचरण करते देखते हैं। फिर मर्त्य में चक्षुरिन्द्रिय की सहायता से भी उन्हें वह देखने में आता है। उनके दृष्टि-पथ में यदि कभी कोई सुरूप मुख वा आकृति आ पड़ती है तो उनमें ऐसी श्री का अनुभव करके वे चमत्कृत होते हैं और उनके शरीर में अद्भुत रोमाञ्च उपस्थित होता है।

बिना एकाग्रता के यथार्थ आनन्द की अनुभूति नहीं होती। विद्वान् लोग गणित वा विज्ञान के जटिल प्रश्नों के समाधान से जो अतुल आनन्द का अनुभव करते हैं वह एकाग्रता से उत्पन्न होता है। सुर तथा लय में आत्म-सम्पर्ण न करने से सङ्गीत का आनन्द नहीं मिलता। नायक-नायिका परस्पर के

मिलन में जिस निबिड़ आनन्द का अनुभव करते हैं वह एकाग्रता का फल है। इन सब क्षणिक एकाग्रताओं के उदाहरणों से हम अनुमान कर सकते हैं कि स्थायी ब्रह्मानन्दानुभूति के लिए कितनी एकाग्रता की आवश्यकता है। अस्थायी खण्ड आनन्द-समूह स्थायी अखण्ड आनन्द के ही अंश हैं।

अनेकों के जीवन में ऐसे विमल मुहूर्त उपस्थित हुए हैं, जब उनकी सौन्दर्य-प्रीति अनुराग में परिणत हुई है, और उनके मन में एक अपूर्व त्रास-विजड़ित आनन्द का सञ्चार हुआ है। उस समय उन्होंने अनुभव किया है कि पृथ्वी एक नवीन जीवनी-शक्ति से पूर्ण है—ऐसी एक प्रभा से उद्भासित है जो प्रतीयमान जगत् की वस्तु नहीं है—जो सर्व-सौन्दर्य के आकर से विच्छुरित है। इस प्रकार की उच्छ्रित अनुभूति की अवस्था में उनके निकट प्रत्येक घास का पत्ता अर्थयुक्त अनुभूत होता है—मानो अपूर्व आलोक का निर्झर है—मानों अमरावती-लग्न मरकत है। आत्मा—जो दर्शक है—मानो सहसा रहस्य-मन्दिर में नीत होकर विस्मय-व्याकुल नेत्रों से सत्य-सुन्दर का दर्शन कर रही है। इस प्रकार की अनुभूतियों की धारा असाधारण होने पर भी इसे हम अवज्ञा की दृष्टि से नहीं देख सकते। यह किस परिमाण से सत्य है, सूक्ष्म परीक्षा से इसका निर्णय करना चाहिए।

स्नायु-वाहित संवाद के अतिरिक्त अन्य किसी अधिक विश्वासयोग्य प्रमाण के द्वारा भौतिक जगत् का अस्तित्व नहीं स्वीकृत होता, किन्तु साधारण मनुष्य का वार्तावह यन्त्र त्रुटियुक्त होता है और उसके द्वारा लोग सहसा प्रतारित हुआ करते हैं। रहस्यवादी प्रकाश्य में हों, चाहे अप्रकाश्य में, इस वार्तावह यन्त्र के सिद्धान्तों पर सन्देह करते आये हैं। वे प्रत्यक्ष दर्शन वा तर्क-

जाल के द्वारा कभी प्रतारित नहीं हुए हैं। वे इन्द्रिय-ज्ञान-सापेक्ष जगत् को पुनः पुनः अस्वीकार कर चिरदिन से कहते आते हैं कि अन्य एक पथ के द्वारा—एक अद्भुत बेतार-यन्त्र के द्वारा—एक गूढ़ उपाय के द्वारा आत्मा (जो ज्ञाता है) सत्य पदार्थ का ज्ञान प्राप्त कर सकती है। इन्द्रिज ज्ञान वा तर्क पर निर्भरशील व्यक्तियों की अपेक्षा अनुभूतियों के सम्बन्ध में उनकी धारणा पूर्णतर है. इस विवेचना मे जो सब वार्तायें धर्म, क्लेश तथा सौन्दर्य के भीतर होकर आती है, उन्हें वे जीवन के केन्द्र में स्थापित करते हैं। सत्य की क्षुधा सब दर्शनों की ही जननी है। सत्य के अस्तित्व का यही भारी प्रमाण है। रहस्यवादियों के मत में चरम सन्तोष लाभ करने के लिए इन्द्रियानुभूति व्यतीत अन्य पन्था भी है। वे ससीम के भीतर असीम को पाने की आशा रखते हैं, यहाँ तक कि असीम अतीन्द्रिय जगत् में विचरण करने को समर्थ है, ऐसा भी कहते हैं। रहस्यवाद का प्रथम सूत्र है—"सत्य का अनुसन्धान करना"; और द्वितीय सूत्र है—"आत्मा स्वयं सत्य है, यह धारणा मन में रखना"। आत्मा सत्य है, इसलिए वह सत्य के पाने की आशा करती है, कारण कि समधर्मी न होने से मिलन असम्भव है*। इन दोनों सूत्रों के अनुसरण तथा अनुशीलन पर रहस्यवादियों की आध्यात्मिक जीवन-यात्रा निर्भर है।

रहस्यवादियों का मतवाद युक्ति के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं है—वह कर्म के ऊपर है। इस मत में जीवात्मा मूलतः परमात्मा से

---

* हमारे शास्त्रकारों ने कहा है कि यदि पूजा तथा आराधना के द्वारा देवता को पाना है तो भक्त को स्वयं देवता होना चाहिए। "देवो भूत्वा देवमर्चयेत्"।

निःसृत है; इस कारण परमात्मा का संयोग-लाभ करने को समर्थ है। अतएव रहस्यवादी इस अधिकार को स्थापित करना चाहते हैं कि युक्ति तथा तर्क के बहिर्भूत अलौकिक जगत् का रहस्य उन्हीं के निकट किसी परिमाण में उद्घाटित हुआ है। यथार्थ ही वह जगत् जो बुद्धि तथा युक्ति से अगम्य है (यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह), वह कैसे रहस्यवादी-भिन्न स्थूल प्रत्यक्षवादी के ज्ञान का विषय हो सकता है ? परिच्छिन्न मन तथा बुद्धि अपरिच्छिन्न सत्ता वा ज्ञान को अपने विचार का विषयी-भूत नहीं कर सकते। दार्शनिकों की नित्य-सत्ता प्राणहीन तथा दुर्लभ है, किन्तु रहस्यवादियों का परमपदार्थ सजीव, सुलभ तथा प्रेमार्पण-योग्य है।

रहस्यवादी कहता है--" हमारा मतवाद प्रयोग-सापेक्ष विज्ञान है। इसका बाहरी विवरणमात्र सुनकर इसे ग्रहण न करना। चखकर इसके स्वाद का परिचय लेना। हम ज्ञानी नहीं है, हम कर्मी हैं। विज्ञान तथा दर्शन का ज्ञान सीमाबद्ध है, किन्तु हमारी दृष्टि सीमा को अतिक्रम कर गई है—असीम की उपलब्धि की है। हम संख्या-लघु हैं, तो भी हमारे सम्प्रदाय का विनाश नहीं। "

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press, Allahabad.